सरस्वती-सिरीज़ नं० ६

दैनिक जीवन और मनोविज्ञान

इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

मनुष्य की स्वाभाविक असमर्थता

विधाता की इस सृष्टि में क्षतिपूर्ति का नियम चलता है। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी वानर-जातीय प्राणी से नर का विकास हुआ है। पर पशुत्व में मानवत्व की प्राप्ति में मनुष्य ने यह जो उन्नति की, वह बड़े महँगे मूल्य में। कारण यह है कि इस उन्नति के साथ वह अपने भीतर असन्तोष, दुःख और चिन्ता के बीज बो बैठा। इस असन्तोष के कारण वह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया और उन्नति के साथ ही असन्तोष भी अधिकाधिक बढ़ता चला गया। इस प्रकार यह चक्रनेमि-क्रम बराबर चला आता है।

मनुष्य के भीतर असन्तोष का जो सबसे बड़ा कारण है वह है उसकी अपनी असमर्थता और अपूर्णता की अनुभूति। यह अनुभूति तभी उसके मन में जागरित हो जाती है जब वह दूध-पीता बच्चा होता है। बच्चा न बोल सकता है, न चल-फिर सकता है, न स्वयं अपनी चेष्टा से अपनी भूख मिटा सकता है; पर वह यह देखता है कि जिस कामों के लिए वह एकदम असमर्थ है, उन्हें उसके माता-पिता बड़ी सरलता से पूरा कर पाते हैं। इस भावना से बच्चे के मन में अज्ञात रूप से अपनी बेकसी के प्रति एक भयङ्कर असन्तोष का भाव जागरित हो उठता है। बच्चे का मस्तिष्क बड़ी शीघ्रता से विकास प्राप्त करता है उसकी अंग-सञ्चालिनी शक्ति बहुत ही धीमी गति से आगे बढ़

पाती है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ उसे रस के स्वाद से परिचित करा देती हैं; पर उस रस-लालसा की चरितार्थता में अपनी शारीरिक असमर्थता के कारण वह असफल रहता है। इच्छापूर्ति में यह स्वाभाविक बाधा प्राप्त होने के कारण उसके भीतर द्वन्द्व और विद्रोह चलता है। अपनी इस असमर्थता और अपूर्णता के कारण उत्पन्न हुई क्षति का पूरण किसी-न-किसी रूप में करने के लिए वह अधीर हो उठता है।

शारीरिक क्षतिपूर्ति

यह बात प्रमाण-सिद्ध है कि जब किसी व्यक्ति की कोई विशेष इन्द्रिय कच्ची पड़ जाती है, तो उसकी दूसरी इन्द्रियाँ अधिक विकसित होकर उस नष्ट अथवा अर्द्धनष्ट इन्द्रिय की कमी को केवल पूरा ही नहीं करतीं; बल्कि मानव-शरीर को अतिरिक्त बल-प्रदान कर देती हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की आँखें कमज़ोर हो जायँ, तो उसकी श्रवण और घ्राण-शक्तियाँ पहले से कई गुना अधिक तेज़ हो उठती हैं। यह भी देखा गया है कि यदि शरीर के किसी भाग की कोई हड्डी टूट जाय तो जो नई हड्डी पुरानी हड्डी के स्थान पर जमेगी, वह मूल हड्डी की अपेक्षा कई गुना अधिक मज़बूत होगी। इसी प्रकार यदि कोई बच्चा अपनी किसी विशेष कमी की पूर्ति का प्रयास ठीक ढङ्ग से करे, तो वह अतिरिक्त मात्रा में उन्नति कर सकता है। पर दुर्भाग्य से बहुधा होता यह है कि विपरीत वातावरण में पलने अथवा माता-पिता के कड़े शासन में रहने, अथवा आवश्यकता से अधिक मात्रा में लाड़-प्यार पाने के कारण उसके विकास और उन्नति का रूप विकृत हो उठता है। वह अपनी कमी की 'पूर्ति' अवश्य करता है; पर विकृत ढङ्ग से। यहाँ पर एक उदाहरण देना उचित होगा।

एक लाड़-प्यार से पाले गये बच्चे की आयु जब चार वर्ष की थी, तो उसका ध्यान इस बात पर गया कि उसके साथी दूसरे बच्चे ककहरा सीख गये हैं; पर वह अभी तक एक अक्षर भी पढ़ने योग्य नहीं हुआ। अपनी इस कमी से उसके मन में भयङ्कर असन्तोष का भाव जाग पड़ा। वह किसी-न-किसी रूप में उसकी पूर्ति करने के लिए उत्सुक हो उठा। उसने सोचा कि पुस्तक पढ़ने में अपने साथियों की समकक्षता करने में वह भले ही समर्थ न हुआ हो; पर किसी दूसरे रूप में अपनी शक्ति बढ़ाकर उसे अपनी साथियों को परास्त करना होगा। फल यह हुआ कि उसने अपनी एक कमी की पूर्ति के उद्देश्य से अपने स्वभाव में धीरे-धीरे धृष्टता और उजड्डपन का विकास करना प्रारम्भ कर दिया। अपने साथियों को बात-बात में डरा-धमका-कर उसने अपने मन में यह विश्वास जमा लिया कि वह उनसे अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ बन गया। श्रेष्ठता और शक्ति का यह जो आदर्श उसने अपने बचपन में अपने लिए स्थापित कर लिया उसे वह अपने जीवन में दीर्घकाल तक निभाता चला गया। परवर्ती जीवन में उसने डाकुओं का एक दल सङ्गठित करके उनका नेतृत्व ग्रहण किया। इस प्रकार उसने अपने बड़प्पन की आकांक्षा को चरितार्थ किया। इस उपाय से उसने अपनी एक स्वभावगत कमी की पूर्ति अवश्य की; पर विकृत रूप से।

शैशव-काल भावी जीवन का प्रतीक है

आधुनिक मनोविज्ञान इस निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच चुका है कि किसी व्यक्ति के जीवन का मूल लक्ष्य उसके शैशव-काल में ही निर्धारित हो जाता है। पाँच वर्ष की आयु के पहले ही बच्चा ज्ञात या अज्ञात रूप से यह निश्चित कर लेता है कि

बाह्य संसार के साथ वह किस रूप में अपने जीवन का सम्बन्ध स्थापित करेगा ? उस छोटी अवस्था में अपने विशेष वातावरण में, अनुभूतियों की जो प्रतिक्रिया उसके मन में होती है, वह उसके चरित्र के एक स्थायी साँचे का निर्माण कर देती है। इसके बाद उसके परवर्ती जीवन की सब अनुभूतियाँ उसी साँचे के भीतर अपने को ढालती रहती हैं। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, चार वर्ष की अवस्था में ही उसके चरित्र का साँचा तैयार हो चुका था और उसके जीवन का लक्ष्य निर्धारित हो चुका था। तब उसने शक्ति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर संसार के साथ व्यवहार का जो ढङ्ग पकड़ लिया था, उसे देखकर कोई भी अनुभवी मनोवैज्ञानिक यह बतला सकता था कि परवर्ती जीवन में यह डाकुओं का सर्दार बनकर रहेगा। इस विषय पर हम विशद रूप से दूसरे किसी परिच्छेद में लिखेंगे। यहाँ पर मानव-स्वभाव को पहचानने की इच्छा रखनेवाले पाठकों से केवल इन दो मूल बातों पर ध्यान देने का निवेदन करना चाहते हैं—पहली बात यह कि प्रत्येक मनुष्य संसार में जन्म लेने के कुछ ही समय बाद से अपनी असमर्थता और अपूर्णता का अनुभव करने लगता है और एक अज्ञात रहस्य-मयी प्रेरणा से प्रेरित होकर अपनी जन्मगत कमी को पूरा करने और अधिकाधिक शक्ति तथा समर्थता प्राप्त करने के लिए भरपूर प्रयास करता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का मार्ग और लक्ष्य बहुत छोटी अवस्था में निर्धारित कर लेता है और अपने चरित्र के जिस साँचे का निर्माण वह उस छोटी अवस्था में कर लेता है, उसके परवर्ती जीवन की सब अनुभूतियाँ (उनके बाह्य रूप चाहे एक-दूसरे से कैसे ही भिन्न क्यों न ज्ञान पड़ते हों) उसी साँचे में अपने को ढालती रहती हैं। अर्थात् बचपन में

वह अपने और संसार के सम्बन्ध में जिस ढङ्ग से सोचने-समझने लगता है और अपने जीवन के आदर्श की जो रूप-रेखा खींच लेता है, परवर्ती जीवन में चाहे कैसे ही विपरीत अनुभव उसे क्यों न हों, उन सबको वह अपने बचपन के उस दृष्टिकोण की कसौटी से ही कसता है। इसलिए सुधारवादी मनोविज्ञानवेत्तागण छोटे-छोटे शिशुओं के लालन-पालन के सम्बन्ध में अत्यधिक सतर्क रहने की सलाह माता-पिता को देने लगे हैं।

मानव-शिशु और पशु-शावक

पर हम मनुष्य की अपूर्णता, असमर्थता और आत्मग्लानि (Inferiority) की अनुभूति की बात कह रहे थे। पहले ही कहा जा चुका है कि जन्म लेने के कुछ ही समय बाद से मानव-शिशु अपनी असहायता की अनुभूति से पीड़ित होने लगता है। इसका यह कारण भी बतलाया जा चुका है कि मानव-शिशु की विवेचना-शक्ति जिस शीघ्रता से विकसित होती चली जाती है उसकी अंग-सञ्चालिनी, सक्रिय शक्ति इतनी ही मन्द-गति से उन्नति करती है। यह विशेषता केवल मनुष्य में ही पाई जाती है, दूसरे किसी जीव में नहीं। पशुओं तथा अन्य मनुष्येतर प्राणियों के मस्तिष्क और सक्रिय शारीरिक शक्ति का विकास समान रूप से चलता है। बिल्ली के बच्चे बहुत ही अल्पकाल तक अपनी माता पर निर्भर करते हैं और ज्यों ही बुद्धि-द्वारा वे यह जान लेते हैं कि चूहा क्या चीज़ है, त्यों ही वे अपने शरीर से भी उसे पकड़ने की समर्थता का अनुभव करने लग जाते हैं। बछिया पैदा होते ही उछल-कूद मचाने लगती है और बहुत छोटी अवस्था में ही यह जान लेती है कि कौन घास खाने योग्य है और कौन अखाद्य। कछुवे के बच्चे

भी जन्म लेते ही स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका का निर्वाह करने योग्य हो जाते हैं। पक्षियों के सम्बन्ध में भी साधारणतः यही बात कही जा सकती है। ज्यों ही कीट-खादक पक्षी-शावक यह जान लेता है कि कीड़ा क्या चीज़ है त्यों ही वह उसे पकड़कर भक्षण करने की समर्थता का परिचय देने लगता है।

पर मानव-शिशु के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। जिन बच्चों को मातृ-स्तन्य के अभाव से बोतल का दूध पिलाया जाता है, वे बुद्धि-द्वारा यह जान जाते हैं कि दूध से भरे बोतल की क्या उपयोगिता है। पर उसे उठाकर बिना किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता के स्वयं दूध पी लेने की समर्थता से वे वञ्चित रहते हैं। दूसरों पर निर्भर किये बिना वह जी नहीं सकता। चलने-फिरने योग्य होने के पहले ही वह इस बात का अनुभव अच्छी तरह करने लगता है कि उसके माता-पिता बड़ी आसानी से इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की शक्ति रखते हैं; पर वह उन्हीं के समान चलने की इच्छा रखते हुए भी खड़े होकर एक क़दम नहीं चल सकता। वह खूब अच्छी तरह जानता है कि उसके मा-बाप शब्दों-द्वारा अपने मन की बात एक दूसरे के आगे प्रकट करते हैं; पर स्वयं अपनी इच्छा को भाषा-द्वारा व्यक्त करने में वह अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है।

निम्न जीवों के बच्चों की तुलना में मानव-शिशु की पराधीनता की अवधि भी बहुत अधिक लम्बी होती है। सभ्यता और संस्कृति की उत्तरोत्तर उन्नति के साथ-साथ यह अवधि भी बढ़ती चली जाती है। वर्तमान समय में हम देखते हैं कि यह पराधीनता केवल उसके शैशव-काल तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि जब तक वह विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करके अपनी स्वतन्त्र जीविका का ठिकाना नहीं कर लेता तब तक उसे सब

विषयों में अपने माता-पिता की अधीनता बाध्य होकर स्वीकार करनी पड़ती है। पराधीनता की अवधि ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जाती है, त्यों-त्यों मनुष्य अपनी असमर्थता की अनुभूति से अधिकाधिक पीड़ित होता है, और अपनी हीनता का तीव्र अनुभव करके भय और आशंकाओं के भार से दबता चला जाता है। जो व्यक्ति जितना अधिक मेधावी होता है, वह अपनी हीनता के बोध से उतना ही अधिक विकल रहता है। वह जीवन-संघर्ष से घबरा उठता है और उसका मन नाना काल्पनिक दुश्चिन्ताओं के जाल में जकड़ जाता है।

मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति

व्यक्तिगत हीनता और असमर्थता की यह भावना किसी हद तक प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान रहती है; पर कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों में यह अत्यधिक मात्रा में बढ़ी हुई पाई जाती है। किसी-किसी व्यक्ति को तो अपनी असहायावस्था की यह अनुभूति भूत की तरह धर दबाती है और उसे प्रतिपल पीड़ित करते हुए जीवन-भर उसका पिण्ड छोड़ने के लक्षण नहीं दिखाती। ऐसे व्यक्ति को सारा संसार अपना शत्रु ज्ञान पड़ता है और वह समाज और संसार से धीरे-धीरे अपनी आत्मा का सम्बन्ध छिन्न करता चला जाता है। पग-पग में झिझक, बात-बात में आशंका, अकारण भय और अनावश्यक चिन्ताओं से उसका मन भ्रमित होता चला जाता है। वह विपुल विश्व में अपने को एकाकी, असहाय और अरक्षित पाता है; और अपनी रक्षा के लिए उत्सुक होकर अपनी मूलगत कमियों की पूर्ति के उद्देश्य से बड़े-बड़े विचित्र उपायों को काम में लाता है। इन उपायों में से कुछ तो ऐसे होते हैं जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं और बहुत-से ऐसे होते हैं जो व्यक्ति को

विनाश की ओर ले जाते हैं और समाज का भी घोर अहित करते हैं। इन उपायों का विस्तृत उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। दुर्भाग्य से वर्तमान संसार के प्रायः सभी देशों में इस प्रकार के स्नायविक तथा मानसिक विकार-ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। मनोविज्ञान-विशारद इन्हें 'साइकेस्थेनिक' (Psychesthenic) या 'न्यूरेस्थेनिक' (Neuresthenic) कहते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसे व्यक्ति प्रतिक्षण भय और आशंकाओं के वातावरण से घिरे रहते हैं। भय की भावना आधुनिक सभ्य-युग के मनुष्य का सबसे प्रचण्ड अभिशाप है। न जाने कितने होनहार नवयुवकों का सारा जीवन इस अकारण भय की भावना से नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। अधिकांश स्नायविक विकार-ग्रस्त व्यक्तियों की यह विशेषता रहती है कि वे बाहर से शान्त, स्थिर और धीर दिखाई देते हैं; पर उनके भीतर मानसिक विकारों का ऐसा तूफ़ान मचा रहता है कि अपने जीवन का एक पल भी वे निश्चिन्ततापूर्वक बिताने में असमर्थ रहते हैं। स्वस्थचित्त व्यक्ति के लिए जो परिस्थितियाँ अत्यन्त साधारण और स्वाभाविक होती हैं, मनो-विकार-ग्रस्त व्यक्ति को वे अत्यन्त भयंकर असाधारण और अस्वाभाविक लगने लगती हैं। सच बात यह है कि काल्पनिक चिन्तायें और आशंकायें ऐसे व्यक्ति के जीवन से ऐसे घनिष्ठ रूप से जड़ित हो जाती हैं कि उनके बिना वह रह नहीं सकता। उसे उनमें एक प्रकार का विकृत और अप्राकृतिक रस मिलता है, यद्यपि वह जानता है कि वह रस प्रतिपल उसकी आत्मा का शोषण करता जा रहा है।

ऐसे व्यक्ति के मानसिक रोग का सबसे भयंकर लक्षण यह है कि वह संसार में किसी को भी मित्र के रूप में ग्रहण करने

के लिए तैयार नहीं रहता। उसकी बुद्धि भले ही किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में इस निश्चय पर पहुँचे कि वह उसका सच्चा हितैषी है; पर उसकी रुग्ण मनोवृत्ति उसके भीतर सन्देह के कीड़े को पोषित करती रहती है और अपने मित्र की यथार्थ हित-भावना में उसे स्वार्थ दिखाई देने लगता है। उसे प्रतिपल यह शंका रहती है कि जो व्यक्ति उसके साथ मित्रता का व्यवहार कर रहा है, वह निश्चय ही गुप्तरूप से उसका नाश करने की चिन्ता में है। ऐसा आत्मगत प्राणी यदि अपने को अकेला महसूस करे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है!

मनोविज्ञान के पण्डितों ने मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया है और उनके अकारण भयों और आशंकाओं को भी उनके विशिष्ट लक्षणों के अनुसार अलग-अलग नामों से निरूपित किया है। अगले प्रकरण में हम कुछ विशेष प्रकार के भयों, आशंकाओं और चिन्ताओं का उल्लेख करेंगे। इसके बाद यथास्थान इस बात पर विचार किया जायगा कि किन उपायों से उन काल्पनिक किन्तु घातक भयों का मूलोच्छेदन किया जा सकता है। मानव-समाज को सुख और शान्तिमय बनाने का सर्वप्रथम उपाय मनुष्य के मन से भय की भावना को दूर करना है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर हम आगे बढ़ेंगे।

भय की भावना

पिछले प्रकरण में कहा जा चुका है कि अपनी हीनता के बोध के साथ-साथ मनुष्य के मन में नाना प्रकार के काल्पनिक भय की भावनायें प्रवेश कर लेती हैं। हमारे अधिकांश भयों के बीज बचपन में ही बोये जाते हैं। जिन बच्चों के मा-बाप का बर्ताव उनके साथ अच्छा नहीं रहता, जिन्हें बात-बात में डराया-धमकाया जाता है, जिनका वातावरण समवेदनापूर्ण नहीं होता, उन्हें चारों ओर से भय और आशंकायें आ घेरती हैं। बच्चे अनुकरणशील होते हैं। वे अपने माता-पिता का जिस प्रकार का स्वभाव या व्यवहार देखते हैं, अपने अज्ञात में वे उसी को अपनाते हैं। जिन बच्चों के माता-पिता चञ्चल-चित्त, झक्की, क्रोधी, निराशावादी और फलतः डरपोक स्वभाव के होते हैं, वे निराशा और आशंकाओं के वातावरण में पलने से जीवन-भर स्वयं भी उसी प्रकार की भावनाओं से पीड़ित रहते हैं। जिन बच्चों को शान्त करने के लिए भूत-प्रेतों का भय दिखाया जाता है; उनके मन में भी भय का बीज बो दिया जाता है जो बाद में पनपकर व्यक्ति के सारे जीवन को विषमय कर देता है। इस प्रकार हम अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों की भूलों के फलस्वरूप शैशव-काल से ही भय की भावनाओं को अपने साथ लिये हुए जीवन-यात्रा करते रहते हैं। बचपन के भय हमारे जीवन के अनुभवों के साथ ही साथ अपना रूप भी बदलते रहते हैं, पर उनका मूल भाव नहीं बदलता। भय का कीड़ा जहाँ एक बार मन के भीतर घुसा, फिर वह रक्तबीज की तरह अपना वंश बढ़ाता चला जाता है! यह देखकर आश्चर्य होता है कि भय की भावना कैसे-कैसे विचित्र रूपों में अपने को व्यक्त करती है।

भय के विविध प्रकार

ऐसे मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या संसार में कुछ कम नहीं है जो किसी खुले स्थान को देखकर भयभीत हो उठते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने घर के दरवाज़े के बाहर निकलते ही नाना प्रकार की चिन्ताओं से पीड़ित हो उठते हैं। उन्हें ऐसा जान पड़ने लगता है जैसे सड़क में चलने-फिरनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उनके प्राण लेने की घात में है। कोई अपरिचित अथवा परिचित पुरुष जब उनसे कोई बात पूछने अथवा सुख-दुःख की बात करने के उद्देश्य से उनकी ओर आगे बढ़ता है, तो वे यह सोचकर घबरा उठते हैं कि वह व्यक्ति निश्चय ही या तो उन्हें कोई अशुभ समाचार सुनायेगा, या किसी गुप्त षड्यन्त्र-द्वारा उन्हें हानि पहुँचायेगा। इस प्रकार की मनोवृत्तिवाला व्यक्ति जब तक लौटकर अपने घर के बद्ध वातावरण के एक सुरक्षित कोने में नहीं पहुँच जाता, तब तक पग-पग पर वह घोर दुश्चिन्ताओं से त्रस्त रहता है। अपने कमरे को चारों ओर से चिकों अथवा पर्दों से ढँककर जब वह गुमसुम होकर बैठता है, तब अपेक्षाकृत चैन की साँस लेता है।

कुछ मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों की मानसिक दशा ठीक इसके विपरीत होती है। वे किसी बद्ध वातावरण में बेतरह घबरा उठते हैं। इसी डर से ऐसे व्यक्ति कभी सिनेमा देखने नहीं जाते। किसी बन्द कमरे में यदि कुछ ही मिनटों के लिए भी इस प्रकार की मनोभावना से पीड़ित व्यक्ति को रहना पड़े, तो वह आतंक से पागल-सा हो उठता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कुछ निरीह प्राणियों—जैसे कुत्ता, बिल्ली, चूहा, मुर्गी, घोड़ा आदि को देखकर भीत हो उठते हैं। छिपकली को देखकर आतंकित होनेवाले व्यक्तियों की संख्या हमारे देश में इतनी अधिक है कि आश्चर्य होता है। बहुत-से समझदार और शान्त-प्रकृति व्यक्ति, जिन्हें हम लोग साधारणतः

'स्वस्थचित्त' समझते हैं, छिपकलियों से कोसों दूर भागते हैं। दीवार या छत पर स्थिर बैठी अथवा चलती हुई छिपकली को देखते ही हाथ-पाँव समेट लेते हैं, और जब तक वह उस स्थान से हटकर उनकी आँखों से ओझल नहीं हो जाती तब तक उन्हें एक पल के लिए भी चैन नहीं मिलता।

बहुत-से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कुछ विशेष प्रकार के सुखाद्य, स्वादिष्ठ और स्वास्थ्यकर खाद्य-पदार्थों को हलाहल से भी अधिक प्राणघाती समझते हैं। ऐसे व्यक्ति यद्यपि रात-दिन अपने मित्रों और सगे-सम्बन्धियों को उन पदार्थों को खाते हुए देखते हैं, और यह भलीभाँति जानते हैं कि उनका कोई बुरा प्रभाव पाकस्थली पर नहीं पड़ता, फिर भी स्वयं उन्हें छूने का साहस नहीं करते, बल्कि उन्हें देखते ही उनका जी भयंकर रूप से मतलाने लगता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें नींद का भय भीषण रूप से सताता है। आँख लगते ही न मालूम किस तरह का भयानक स्वप्न देखना पड़े, इस भय से वे सोना नहीं चाहते। इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो इस भय से शंकित रहते हैं कि कहीं उन्हें अनिद्रा का रोग न हो जाय। उन्हें नींद आती है; पर अनिद्रा-रोग की काल्पनिक आशंका से वह उचट जाती है।

शब्दों के भय से भीत होनेवाले व्यक्तियों की संख्या संसार में कल्पनातीत रूप से अधिक है। तोप, बन्दूक़ या पटाख़े के शब्द से भीत होना तो उनके लिए स्वभावत: साधारण-सी बात है; किवाड़ के खटखटाने, चारपाई या कुर्सी के चरमराने, बिल्ली के कूदने, चूहे के चूँ-चूँ करने, मेढक के टर्राने, कुत्ते के भूँकने, घोड़े के हिनहिनाने, गधे के रेंकने तथा और भी इसी प्रकार के असंख्य शब्दों से वे आतंकित हो उठते हैं।

ऐसे व्यक्ति रात-दिन के जीवन में मिलते रहते हैं जिनके लिए संसार का कोई भी विषय भय का कारण बन जाता है। उन्हें

भोजन से भय, पानी से भय, गन्दगी से भय, सफ़ाई से भय, निर्धनता से भय, धनाढ्यता से भय, रोग से भय, बुढ़ापे से भय, बोलने से भय, चुप रहने से भय, किसी से मिलने से भय, अकेले रहने से भय, भोग से भय, वैराग्य से भय, पाप से भय, पुण्य से भय, झूठ बोलने से भय, सच कहने से भय, लोगों-द्वारा उपेक्षित होने से भय, लोगों की दृष्टि में आने से भय, अविवाहित जीवन से भय, विवाह करने से भय, एक ही स्थिति में जम रहने से भय, किसी की नई परिस्थिति को अपनाने से भय, तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक घटना से ऐसे व्यक्ति भय का अनुभव करते हैं।

भर्तृहरि ने संसार के प्रायः सभी विषयों को भय का कारण माना है और 'केवल वैराग्य को ही 'अभय' माना है, पर आधुनिक मनोविश्लेषक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि वैराग्य कभी अभय का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह हीनता की भावना से पीड़ित व्यक्ति को (जो कि पहले से ही अपने को समाज और संसार से विच्छिन्न किये रहता है) जीवन से और अधिक दूर हटा देता है, और जो व्यक्ति संसार, समाज, और जीवन से जितना ही अलग रहेगा, वह भय की भावना से उतना ही अधिक त्रस्त रहेगा। वैराग्य को अपनाकर केवल वे ही लोग सन्तोष पा सकते हैं जो अपनी असमर्थता और कायरता के कारण अंगूरों को खट्टा बताते हैं। वैराग्य से कभी मानवात्मा के भव-भय का भञ्जन नहीं हो सकता; बल्कि वह और अधिक जटिल और रहस्यमय रूपों से उसे विकल करता रहेगा। इसी लिए कृष्ण ने गीता में अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दिया है और समाज तथा संसार के रात-दिन के कर्मजीवन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हुए मुक्ति का अनुभव करने का महान् पाठ पढ़ाया है। विषयान्तर में चले जाने के भय से इस सम्बन्ध में अभी हम अधिक कुछ नहीं कहेंगे।

वहुधा यह देखा जाता है कि साधारण रूप से स्वस्थचित्त व्यक्ति भी कभी-कभी अकस्मात् अकारण ही ऐसा भीत हो उठता है कि उसका सारा शरीर पत्थर की तरह जड़ बन जाता है। एक व्यक्ति एक बार अपने साथियों के साथ किसी पहाड़ की चोटी पर चढ़ा। पर जब उसने वहाँ से नीचे उतरने की बात सोची, तो भय के कारण उसे जैसे लकवा मार गया। वह निर्जीव-सा बनकर अपने स्थान पर यथास्थित खड़ा रहा, और एक पग भी आगे नहीं बढ़ सका। वह कई बार पहले भी उस पहाड़ की चोटी पर चढ़ा था, और नीचे उतरा था; पर उस दिन न जाने क्यों उसके मन में यह धारणा जम गई कि नीचे की ओर एक पग आगे बढ़ाते ही वह फिसलकर नीचे खड्ड में गिर पड़ेगा। उसके साथी उसे एक 'स्ट्रेचर' में रखकर नीचे ले गये। असल में उस आकस्मिक भय का मूल कारण निश्चय ही कोई दूसरा था, जिसने पहाड़ से नीचे गिर पड़ने के भय का रूप धारण कर लिया। हमारी अन्तरात्मा हमें निरन्तर इसी प्रकार ठगती रहती है। अपने किसी गुप्त मनोविकार के कारण हमारे मन में भय की भावना जगती है, पर हमारी अन्तरात्मा किसी बाह्य विषय को निमित्त बनाकर उस पर उस भय का कारण आरोपित कर देती है। उल्लिखित व्यक्ति ने कुछ समय पहले अपने एक स्वस्थ मित्र की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सुना था। एक मोटर-दुर्घटना से उसके उस मित्र की मृत्यु हुई थी। उसके अन्तर्मन में तब से उसके अनजान में यह भय बना हुआ था कि कहीं उसकी मृत्यु भी किसी दुर्घटना से न हो जाय। पहाड़ से नीचे उतरते समय अन्तर्मन में छिपा हुआ उसका मृत्यु-भय अकस्मात् एक बहाना पाकर जाग पड़ा, जिसने उसके सारे शरीर और मन को भयङ्कर रूप से जकड़ लिया।

भय के कारण शरीर और मन के इस प्रकार जकड़ जाने

की यह प्रवृत्ति मनुष्य ने, जीवशास्त्रियों के कथनानुसार, अपने पूर्वज प्राणियों से पाई है। पशुओं ने आत्मरक्षा के लिए इस प्रवृत्ति को अपने अज्ञात संस्कार से अपनाया है। उदाहरण के लिए जब कोई खरहा किसी शिकारी प्राणी के भय के कारण जकड़कर पत्थर की तरह जड़ बन जाता है, तो इस उपाय से वह अपनी आत्मरक्षा करता है, क्योंकि उसका शत्रु उसे मृत समझकर छोड़ देता है। मनुष्य में पशुओं का यही अन्ध-संस्कार वर्तमान है, पर उसकी उपयोगिता उसके लिए कुछ भी नहीं रह गई, क्योंकि अपनी बुद्धि के विकास से उसने आत्मरक्षा के दूसरे अधिक उपयोगी उपाय सीख लिये हैं। इसलिए जब हम किसी आकस्मिक भय से जकड़ जाने को होते हैं, तब उस समय हमें अपनी स्वाभाविक बुद्धि को काम में लाकर यह सोचना चाहिए कि उनके भय का मूल कारण क्या है? यथार्थ कारण मालूम होते ही हममें स्थिरता आ जायगी और तत्कालीन भय से मुक्त होने का उचित उपाय भी हमें सूझ जायगा। उदाहरण के लिए यदि पूर्वोल्लिखित व्यक्ति साधारण बुद्धि को काम में लाकर यह सोचता कि उसके उस समय के भय का मूल कारण पहाड़ की दुर्गमता नहीं, बल्कि उसके अन्तर्मन में दबी हुई कोई अप्रिय स्मृति है, तो वह उसी क्षण स्वस्थ और स्थिर हो जाता।

मृत्यु का भय

मृत्यु का भय मनुष्य को सबसे अधिक संत्रस्त किये रहता है। न जाने कब, किस रूप में, किस दशा में मृत्यु हो जाय, इस भय से जानकर या अनजान में प्रत्येक मनुष्य भीत रहता है। पर स्वस्थचित्त व्यक्ति इस भावना से इस हद तक ग्रस्त नहीं रहता कि उसके कारण जीवन के उपभोग से वञ्चित रहे। वह जानता है कि उसके भीतर मृत्यु-भय का स्वाभाविक अन्ध-

संस्कार वर्तमान है, पर अपनी बुद्धि को काम में लाकर वह उस भय की भावना से अपने जीवन की धारा को विषमय नहीं बनाता। जिस प्रकार साँप अपने विष से स्वयं पीड़ित नहीं रहता, उसी प्रकार स्वस्थचित्त व्यक्ति को मृत्यु-भय का संस्कार नहीं सताता।

पर अस्वस्थ-चित्त मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति अपनी हीनता की अनुभूति के कारण जीवन से, समाज से और संसार से विच्छिन्न होकर प्रतिपल अपने को अनाथ, असहाय और अरक्षित समझता है, और जीवन की प्रत्येक घटना और प्रत्येक परिस्थिति में उसे मृत्यु का आभास मिलता रहता है। प्रतिक्षण उसके मन में यह आशंका बनी रहती है कि न जाने कब कौन दुर्घटना आकर उसे धर दबावे। शहर में एक व्यक्ति को हैज़ा या और कोई घातक और संक्रामक रोग हो गया, यह संवाद सुनते ही ऐसा व्यक्ति भयङ्कर रूप से घबरा उठता है, और प्रतिक्षण यही आशङ्का करता रहता है कि छूत की वही घातक व्याधि उस पर भी आक्रमण करना चाहती है। रेल की दुर्घटना का कोई समाचार पढ़ते ही ऐसा व्यक्ति उत्तेजित हो उठता है, और हताहत व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए रेलवे अधिकारियों को कोसने लगता है। इससे यह न समझना चाहिए कि वास्तव में हताहत व्यक्तियों के प्रति उसके मन में समवेदना जग उठी है। वास्तव में वह इस आशंका से बौखलाया रहता है कि न जाने कब रेल की यात्रा करते हुए उसकी गाड़ी भी किसी दूसरी ट्रेन से लड़ पड़े, और उसे भी उसी प्रकार की दुर्घटना का शिकार बनना पड़े। जितनी बार भी वह रेल की यात्रा करता है, यह कल्पित भय-भावना एक घड़ी के लिए भी उसका साथ नहीं छोड़ती कि गाड़ी अब लड़ी, तब लड़ी। योरप के किसी कोने में लड़ाई छिड़ते ही उसे, सात समुद्र पार रहने पर भी,

यह आतंक विकल करने लगता है कि कोई हवाई जहाज़ आकर सबसे पहले उसी के सिर पर बम बरसावेगा।

वह यह नहीं सोचता कि मृत्यु एक दिन निश्चित रूप से आवेगी, पर आवेगी केवल एक ही बार; प्रतिपल उसके भय से भीत रहने से उसका अन्तिम निवारण तो हो नहीं सकता, बल्कि इस प्रकार सारा जीवन ही जीवित मृत्यु का रूप धारण कर लेता है। शेक्सपियर ने कहा है कि वीर पुरुष केवल एक बार मरते हैं, पर कायरों की मृत्यु जीवन के प्रतिपल में होती रहती है। ऐसे भयभीत, कायर मनोवृत्ति के व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ के प्राचीन नीतिज्ञों ने कहा है—"यज्जीवनं तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः।" अर्थात् उनका वह जीवन मृत्यु के समान है, और जो मृत्यु है वह उनके लिए विश्राम है।

अनर्थ का मूल स्वार्थ है

हमारे देश के प्राचीन योगशास्त्रकारों तथा मनोविज्ञानाचार्यों ने कहा है कि किसी कष्टकर भावना को मन से हटाने का एक उपाय यह है कि उसी के विपरीत किसी सुखकर भावना को उसके ऊपर आरोपित कर दिया जाय। इस नियम से यह सिद्ध है कि मृत्यु-भय के निराकरण के लिए जीवन के आनन्द के भाव को दृढ़ता के साथ अपनाया जाय। यह तभी हो सकता है जब हम समाज और संसार से अपने को विच्छिन्न न करके सारी मानवता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करें। मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वह भयंकर रूप से स्वार्थी और आत्मगत (Egocentric) होता है। वह अपने मन में अपने आप यह भ्रम उपजा लेता है कि सुख-दुःख की जो भावनायें उसके हृदय में उठती हैं केवल वे ही यथार्थरूप से सत्य हैं, संसार के शेष सब व्यक्तियों की अन्तर्वृत्तियाँ काल्पनिक,

स्वप्नमयी और असत्य हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति जिस अनुपात में उसके स्वार्थों की पूर्ति करने में समर्थ होता है, केवल उसी अनुपात में उसका उससे सम्बन्ध रहता है। वह अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार समझता है कि संसार उसके स्वार्थों की पूर्ति करता रहे। वह यह नहीं सोचता कि संसार में केवल वही एकमात्र मनुष्य नहीं है, उसी की तरह करोड़ों व्यक्ति प्रतिपल जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने की चेष्टा में पिसे जा रहे हैं, और उन करोड़ों व्यक्तियों को भी उसी के समान यह सोचने का अधिकार है कि समाज उनके व्यक्तिगत सुख-दुःखों की ओर ध्यान दे।

चूँकि समाज स्वभावतः किसी के व्यक्तिगत स्वार्थों की ऐकान्तिक पूर्ति नहीं कर सकता, इसे वह अपने सामूहिक संगठन के नियम के विरुद्ध समझता है, इसलिए मनोविकार-ग्रस्त स्वार्थी व्यक्ति उसे गाली देने लगता है। वह बार-बार यह शिकायत करने लगता है कि सारा संसार उसके प्रति भयंकर अन्याय करने पर तुला हुआ है, और उसके विनाश के लिए तरह-तरह के षड्यन्त्र रच रहा है। जैसे संसार के लिए केवल उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के अतिरिक्त दूसरा कोई काम ही न हो!

इन सब कारणों से मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति जीवन की वास्तविकता को भुलाकर, वास्तविक संसार से अपना सम्बन्ध तोड़ देता है, और अपने लिए एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करके उसी में विचरण किया करता है। जिस प्रकार प्रेतात्म-वादियों के कथनानुसार प्रतिदिन चलने-फिरनेवाले जीवित मनुष्यों के प्रत्यक्ष जगत् के ही भीतर भूत-प्रेतों का एक अदृश्य जगत् वर्तमान है, उसी प्रकार मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति भी इस प्रत्यक्ष जगत् के ही भीतर एक निराले भौतिक जगत् में रहता है। वास्तविक जगत् के प्राणियों से बाह्य रूप से मिलते रहने पर भी

उनके साथ किसी तरह का सम्बन्ध उसकी अन्तरात्मा स्थापित नहीं करना चाहती। संसार और समाज के साथ असहयोग की यह मनोवृत्ति वर्तमान युग के सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्तियों की दुश्चिन्ताओं और मनोविकारों का एक प्रधान कारण है।

कुछ विशेष प्रकार के भय

एक विशेष प्रकार के मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति होते हैं जिन्हें अँगरेज़ी में 'पैरेनाइड कैरेक्टर्स' (Paranoid Characters) कहते हैं, और जिस मनोविकार से वे पीड़ित रहते हैं वह 'पैरेनोइया' (Paranoia) के नाम से विख्यात है। इस विशेष मनोविकार से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या इधर हमारे समाज में दिन पर दिन बढ़ती चली जाती है। आजकल प्रायः साठ प्रतिशत व्यक्ति इससे पीड़ित दिखाई देते हैं, यद्यपि सभी व्यक्तियों पर इसका प्रकोप समान रूप से नहीं रहता।

'पैरेनोइया'-ग्रस्त व्यक्ति की विशेषता

इस मानसिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति के स्वभाव की यह विशेषता है कि किसी एक विशेष मनोभाव का भूत उस पर सब समय सवार रहता है। कुछ विचित्र मनोवैज्ञानिक कारणों से उसके सचेत मन पर यह भ्रमपूर्ण विश्वास जम जाता है कि वह एक दिव्यद्रष्टा महापुरुष है, और उसके समाज के लोग उसकी इस श्रेष्ठता से ईर्ष्यान्वित होकर उसके विरुद्ध नाना प्रकार के षड्यन्त्र रच रहे हैं। जिन लोगों को यह मानसिक रोग उत्कट रूप में आक्रमण करता है वे पागलखाने में भेजने योग्य हो जाते हैं; और जिन पर

अपेक्षाकृत हलके ढंग से इसका प्रकोप होता है, वे ऊपरी दृष्टि से देखने पर साधारण व्यक्तियों के ही समान शान्त-प्रकृति और स्थिर-स्वभाव जान पड़ते हैं, किन्तु यदि उनके बाह्य स्वभाव को भेदकर उसके भीतर प्रवेश किया जाय तो जान पड़ेगा कि भीतर-ही-भीतर वे किसी पागल से कुछ कम नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति रात-दिन के जीवन में हमें मिलते रहते हैं, यद्यपि उनके इस विचित्र मनोविकार की विशेषता सब समय हम लोगों की दृष्टि में नहीं आती।

'पैरेनोइया' के रोग से ग्रस्त व्यक्ति अत्यन्त सन्दिग्ध-प्रकृति और वहमी होता है। हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जिनसे हमारे एक मित्र नित्य मिलने पर 'प्रणाम' कहा करते थे। एक दिन हमारे मित्र ने अन्यमनस्क होकर 'प्रणाम' के बदले 'नमस्कार' कह दिया। इस अत्यन्त साधारण-सी बात से उक्त महाशय के मन में इस अकारण सन्देह ने अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर लिया कि हमारे मित्र का रुख़ उनके प्रति बदल गया है, और उनके प्रति व्यंग्यबाण कसने अथवा अपमान करने के उद्देश्य से अभिवादन का यह नया ढंग अख़्तियार किया गया है। उन्होंने बाद में हमसे स्वीकार किया कि इस साधारण-सी बात के कारण उन्हें तीन रातें अनिद्रावस्था में बितानी पड़ीं।

जिन महाशय का उल्लेख हमने किया है वे साधारणतः शान्त-प्रकृति और स्थिर-चित्त दिखाई देते हैं, नियमित रूप से आफ़िस जाते हैं, और विशेष-विशेष अवसरों को छोड़कर (जब कि वे अकारण ही किसी पर सन्देह करके अत्यन्त उत्तेजित हो उठते हैं) हमसे बड़े प्रेम से मिलते रहते हैं।

पर सभी 'पैरेनोइया'-ग्रस्त व्यक्ति इस प्रकार 'प्रेम' से मिलनेवाले नहीं होते। हमारे एक दूसरे मित्र हैं जो सब समय रोते-झीखते रहते हैं, और अपने 'मित्रों' की शत्रुता के प्रमाण हमारे

सामने पेश करते रहते हैं। हमारे ये मित्र महाशय स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि चूँकि वे अद्वितीय प्रतिभाशाली पुरुष हैं, इसलिए उनके सब मित्र उनसे जलते हैं। ये 'अद्वितीय प्रतिभाशाली' महाशय 'सुरुचिपूर्ण' भोजन के बड़े प्रेमी हैं। यदि उनका कोई मित्र उन्हें सप्ताह में एक बार भोजन के लिए निमन्त्रित न करे, तो वे इसका यह कारण बताते हैं कि उनके प्रति ईर्ष्यालु होने के कारण उनके मित्र ने उन्हें निमन्त्रण नहीं दिया; और यदि कोई मित्र उनकी भोजन-सम्बन्धी सुरुचि का ख़याल करके बढ़िया-बढ़िया मसालेदार और घी से तर व्यञ्जन खिलावे, तो वे यह शिकायत कर उठते हैं कि "उन्हें मरभुखा समझकर अपनी धनाढ्यता का दम्भ प्रकट करने के लिए ऐसा आडम्बर किया गया है।" तात्पर्य यह कि उक्त मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति के मन पर सन्देह का भूत प्रत्येक दशा में बना रहता है, ऐसा व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि वह क्या चाहता है, और अपने सन्देहों और दुश्चिन्ताओं से स्वयं क्षत-विक्षत होकर अपने घरवालों और परिचित व्यक्तियों को भी बुरी तरह परेशान किये रहता है।

आत्मग्लानि की अनुभूति

ऐसा व्यक्ति अपनी अन्तश्चेतना में आत्मग्लानि और हीनता की अनुभूति से पीड़ित रहता है। इसलिए वह आत्मरक्षा के लिए तरह-तरह के काल्पनिक उपायों को सोचता रहता है। उसका सचेत मन अपनी हीनता को स्वीकार करना नहीं चाहता। फल यह होता है कि वह अपने स्वभावगत मानसिक कष्टों के लिए बाह्य संसार को उत्तरदायी समझने लगता है। उसे पग-पग पर यह वहम होने लगता है कि उसके परिचित व्यक्ति उसकी सब गुप्त बातों का भेद जानने के लिए सब समय सचेष्ट रहते

हैं, वे उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की अफ़वाहें लोगों में फैला रहे हैं, जिस आफ़िस में वह काम करता है उसके प्रधान के कान उसके विरुद्ध भरे जा रहे हैं। इस प्रकार की अकारण शंकाओं का फल यह होता है कि उसका व्यवहार अत्यन्त विचित्र रूप धारण कर लेता है और उसके मित्र सचमुच उससे तंग आ जाते हैं। स्वभावतः ऐसे व्यक्ति की नौकरी छूट जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसके अकारण सन्देह, और अधिक पुष्ट और बद्धमूल हो जाते हैं। किसी दूसरे स्थान में उसे नौकरी मिल जाने पर वहाँ भी वह अपने स्वभाव की विलक्षणता का परिचय अपनी नव परिचित मण्डली को देने लगता है। उसके बर्ताव के अनोखेपन के कारण स्वभावतः लोग उसकी प्रत्येक हरकत पर ध्यान देने लगते हैं। इससे उसके मन में निश्चित रूप से यह विश्वास जम जाता है कि उसकी प्रतिभा से जलनेवालों की संख्या बढ़ती चली जा रही है, और उसे सताने के लिए कुछ संगठित दल उसका पीछा कर रहे हैं। इस कल्पना से उसके मन में अपने महापुरुषत्व की धारणा और अधिक दृढ़ हो जाती है, और वह अपने चित्त को समझाने के लिए उन महान्पुरुषों की जीवनियाँ पढ़ता है जिन्हें अपने जीवन-काल में जनता की अज्ञता के कारण भयंकर कष्ट उठाने पड़े हैं। इस प्रकार महात्माओं के कष्टों से अपने कष्टों की तुलना करके वह अस्थायी सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। कभी-कभी उसके मन में यह भ्रम होने लगता है कि कोई अपूर्व सुन्दरी महिला उसकी प्रतिभा के कारण उस पर मुग्ध होकर उसके चरणों में अपना प्रेम निवेदन करने के लिए अत्यन्त उत्सुक है, पर उसके 'शत्रु' (जिनकी संख्या अनन्त है) उसे उसके पास जाने से रोकने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।

इस प्रकार के मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों से क्रुद्ध अथवा

असन्तुष्ट होने के बजाय उनके प्रति सहनशीलता और सच्ची सहानुभूति दिखाने की आवश्यकता है। वास्तव में ऐसे व्यक्ति दया के पात्र होते हैं। उनके स्वभाव में तभी कुछ परिवर्तन हो सकता है जब समाज के सहनशील और सहृदय व्यक्ति धीरे-धीरे उनके हृदयों पर अपने प्रति विश्वास का भाव जमाकर उन्हें उनके भ्रमों से परिचित करावें; उन्हें यह समझावें कि लोगों के पास इतना फालतू समय नहीं है कि वे चौबीसों घंटे उन्हें सताने की बात सोचते रहें। उन्हें यह समझाने की आवश्यकता है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं की तरह अपने अज्ञात में अपनी हीनता के बोध से पीड़ित रहता है, अन्तर केवल मात्रा का है। उनकी अन्तश्चेतना में हीनता की यह अनुभूति अत्यन्त प्रबल रूप से वर्तमान है, दूसरों में उनकी अपेक्षा कम है; पर है यह सबमें। इसलिए उन्हें चाहिए कि अपने स्वभाव की विचित्रता से घबरावें नहीं, बल्कि दूसरों के प्रति सन्देह के भाव को धीरे धीरे मन पर से हटाने का प्रयत्न करते हुए समाज और संसार के साथ सामञ्जस्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेष्ट हों। इस उपाय से उनके मन की सब दुश्चिन्तायें, भ्रम और प्रमाद दूर हो जायँगे और वे बजाय दूसरों के आगे रोने या एकान्त में अपने दुर्भाग्य को कोसने के दूसरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने योग्य हो जायँगे।

'प्रोज़ेक्शन' या अधिन्यास

हमारे समाज में आमतौर से फैला हुआ एक दूसरा मानसिक रोग है, जिसे अँगरेज़ी में 'प्रोजेक्शन' (Projection) कहते हैं। इसे हिन्दी में 'अधिन्यास' कहा जा सकता है। इस मानसिक रोग की यह विशेषता है कि इससे ग्रस्त व्यक्ति के भीतर जो-जो नैतिक दुर्बलतायें होती हैं उन्हें उसका मन दूसरों पर आरो-

पित (अधिन्यस्त) कर देता है। उसके मन में यह विश्वास जम जाता है कि वे अवगुण उसमें नहीं हैं, बल्कि उससे मिलने-जुलने-वाले दूसरे व्यक्तियों में हैं। अपने अन्तर में बद्धमूल समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम की आशंका से मुक्ति पाने के लिए वह अपने अनजान में अपने सचेत मन में इस प्रकार का विश्वास जमा लेता है।

इस मनोविकार में ग्रस्त व्यक्ति बड़ा असहनशील होता है। जो अवगुण उसमें होते हैं उन्हें जब वह दूसरों में पाता है, तो भयङ्कर रूप से उनका तिरस्कार करने लगता है। जिस व्यक्ति से वह घृणा करता है, उसमें यदि वे अवगुण (जो उसके अपने भीतर होते हैं) न भी हों, तो वह उन्हें उस अनिच्छित व्यक्ति पर आरोपित करने में बड़ा आनन्द पाता है। कालिदास की शकुन्तला जब दुष्यन्त के पास जाकर अपना परिचय देती है, तो दुष्यन्त यह संकेत करता है कि वह निर्लज्जा और व्यभि-चारिणी है। शकुन्तला अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से दुष्यन्त के मनोविकार का मर्म पा जाती है और उत्तर देती है—"तुम अपने मनोभाव का आरोपण दूसरों पर करना चाहते हो।" दुष्यन्त की मनोवृत्ति के व्यक्ति संसार में बहुत अधिक संख्या में वर्तमान हैं। यही कारण है कि हमारे समाज में दिन पर दिन असहनशीलता बढ़ती चली जाती है। यह दृष्टान्त हम रात-दिन देखते हैं कि साम्प्रदायिक हिन्दू कट्टरता और धर्मान्धता का दोष मुसलमानों पर आरोपित करते हैं और मुसलमान हिन्दुओं पर। दोनों यद्यपि सच्चे मन से अपनी धारणा पर विश्वास करते हैं, पर यह नहीं जानते कि वे अपनी अन्तरात्मा को अज्ञात में धोखा दे रहे हैं। यदि दोनों सम्प्रदाय के लोग मनो-वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से अपनी मूल भावना का विश्लेषण करें, तो उन्हें मालूम होगा कि प्रत्येक साम्प्रदायिक-मंडली अपने

भीतर अन्ध-कट्टरता का भाव पोषित किये हुए है, इसलिए उसकी प्रज्ञा (Conscience) अपने अनजान में अपने-आपको ठगकर उस सङ्कीर्ण मनोवृत्ति के दोष से मुक्ति पाना चाहती है, और फलत: इस बात पर विश्वास करना चाहती है कि अन्ध-कट्टरता का दोषी उसका विरोधी सम्प्रदाय है, वह नहीं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण को काम में लाने से बहुत-सी व्यक्तिगत और सामाजिक भूलों का निराकरण हो सकता है।

अन्तश्चेतना की छलना

जिन मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों के मन में यह निश्चित धारणा जम जाती है कि दूसरे व्यक्ति उन्हें सताने पर तुले हुए हैं, उनमें से अधिकसंख्यक ऐसे होते हैं जो पूर्वोक्त कारण से अपने अनजान में अपने मनोभावों को दूसरों पर विन्यस्त कर देते हैं। ऐसे विकार-ग्रस्त व्यक्ति के मन में किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध कोई घोर दुष्कर्ममूलक प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। उसकी प्रज्ञा को उसका यह मनोभाव बहुत अखरता है। इसलिए उसका सचेत मन (Conscious mind) इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहता कि वह निन्दनीय प्रवृत्ति वास्तव में उसके भीतर वर्तमान है, बल्कि उसके मन में यह भ्रमपूर्ण धारणा जम जाती है कि उद्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों के मन में उलटे उसके प्रति वह दुर्नीतिपूर्ण मनोभाव वर्तमान है। उदाहरण के लिए, एक महिला, जो सच्चरित्रता और सुनीति-परायणता के लिए विख्यात थी, एक बार इस बात की शिकायत करने लगी कि उसकी परिचित मंडली का एक विशेष व्यक्ति उसे बुरी निगाह से देखा करता है। उसने अपना यह अनुमान लोगों के आगे प्रकट किया कि वह व्यक्ति उससे विवाह

करने के लिए उत्सुक जान पड़ता है। कुछ समय बाद उसके मन में यह धारणा जम गई कि उक्त व्यक्ति उसे बलपूर्वक भगा ले जाने के फेर में है। यह धारणा उसके मन में ऐसी बद्धमूल हो गई कि उसने उस व्यक्ति को एक पत्र लिखा, जिसमें उसे फटकार बताई गई, और साथ ही पुलिस को भी उसने सूचित कर दिया। पुलिस ने गहरी जाँच की तो पता लगा कि जिस व्यक्ति पर उस महिला ने दोषारोपण किया है, वह कभी भूल से भी उसकी ओर आकर्षित नहीं हुआ है; आकर्षित होना तो दूर किनार उसने कभी उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से पता लगा कि स्वयं उक्त महिला के अन्तर्मन में उस व्यक्ति के प्रति पाप-भावना वर्तमान थी, पर चूँकि उसकी प्रज्ञा इस मनोवृत्ति को दुर्नीतिपूर्ण समझती थी, इसलिए उसके मन ने अपने-आपको ठगकर यह विश्वास जमा लिया कि दुर्नीतिमूलक मनोवृत्ति की दोषी वह नहीं, बल्कि वह व्यक्ति है जिसे उसकी अन्तश्चेतना चाहने लगी थी।

हमारी अज्ञात चेतना (Unconscious mind) अथवा अन्तश्चेतना हमारे सचेत मन (Conscious mind) के साथ कैसी-कैसी चालबाज़ियाँ किया करती है, उक्त घटना इसका एक रोचक उदाहरण है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की यह विशेषता है कि किसी विशेष मनोविकारग्रस्त व्यक्ति की अज्ञात चेतना में छिपे हुए मूल भावों को यदि मनोविश्लेषण-द्वारा उसके सचेत मन की जानकारी में लाया जा सके, तो उसका वह विशेष मनोविकार दूर हो जाता है। उक्त महिला के सम्बन्ध में भी यही हुआ। ज्यों ही मनोविश्लेषण-द्वारा उसके सचेत मन ने अपनी अन्तश्चेतना के मूल उद्देश्यगत भाव को जान लया, त्यों ही उसका भ्रम दूर हो गया, और उस मनो-विकार से उसने मुक्ति पा ली। यदि इस प्रकार के विकार-

ग्रस्त व्यक्ति अपना मनोविश्लेषण स्वयं करने का प्रयत्न करें, तो भी वे विकार-मुक्त हो सकते हैं।

'अपवेशन' या 'धुन'

बहुत-से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके मन पर कुछ विचित्र, भ्रमपूर्ण और सन्देहात्मक कल्पनायें उनकी इच्छा के विरुद्ध, बरबस प्रतिपल उदित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए, बहुधा यह देखा जाता है कि कुछ सच्चरित्र और पवित्रतावादी व्यक्तियों के मस्तिष्कों में कुछ विशेष प्रकार के घोर अश्लील शब्द बार-बार, उनकी इच्छा के एकदम विरुद्ध मँडराते रहते हैं। उन्हें इस बात से बहुत कष्ट होता है, वे उन शब्दों को मूलतः भूल जाना चाहते हैं, पर जितना ही वे भूलने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही अधिक निर्लज्जता के साथ वे शब्द बार-बार अपने अस्तित्व की याद दिलाते रहते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी प्रज्ञा अत्यन्त पीड़ित हो उठती है, और चिन्ता, आशंका तथा भय उनके भीतर घर कर लेते हैं। उनका चित्त धीरे-धीरे प्रत्येक विषय में द्विविधा-ग्रस्त हो उठता है, और खाने, पीने, सोने, उठने, बाहर जाने, भीतर बैठने, तात्पर्य यह कि किसी भी साधारण-से साधारण काम के सम्बन्ध में ऐसा व्यक्ति ठीक तरह से कुछ भी निश्चय नहीं कर पाता।

पाठकों में से बहुतों ने अपने जीवन में इस बात पर ध्यान दिया होगा कि कभी-कभी किसी ऐसे गीत का कोई पद कई दिनों तक उनके मस्तिष्क में उनकी इच्छा के विरुद्ध अपनी रट लगाता रहता है जिसका न छन्द, न ताल, न स्वर, न ठाठ, न अर्थ, न भाव, कुछ भी उन्हें क़तई रुचिकर नहीं जँचता। अपने सुसंस्कृत

मस्तिष्क की इस मूर्खता पर उन्हें क्रोध आता है कि ऐसे बेसिर-पैर के बाज़ारू गीत का पद वह अकारण ही रटता चला जाता है। पर इस क्रोध का कोई फल नहीं होता, बल्कि उसका उलटा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी यह रटन कुछ घण्टों तक रहती है, कभी कुछ दिनों तक, और कभी कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह भी देखने में आता है कि जीवन-भर कुछ अर्थहीन गीतों के विशेष पद उनके मस्तिष्कों में रट लगाते रहते हैं, जिससे उनके मानसिक कष्ट का कुछ ठिकाना नहीं रहता। इस प्रकार की क्रिया को, जो मस्तिष्क में व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध निरन्तर जारी रहती है, अँगरेज़ी में 'आबसेसन' (Obsession) कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए कोई उपयुक्त वैज्ञानिक शब्द न होने से हम 'अपवेशन' कहकर अपना काम चलावेंगे। इसके लिए ठेठ हिन्दी शब्द 'धुन' हो सकता है, पर चूँकि यह शब्द अच्छे अर्थ में व्यवहृत होता है, इसलिए यह उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

'अपवेशन' केवल मानसिक क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रहता, बहुधा यह शारीरिक क्रियाओं के रूप में भी अपने को व्यक्त करता है। इसमें सन्देह नहीं कि उन शारीरिक क्रियाओं को सञ्चालित करनेवाली शक्ति भी चेतना (सुप्त या जाग्रत्) के भीतर से ही आती है।

रात-दिन के छोटे-मोटे अभ्यास

हमारे रात-दिन के छोटे-मोटे साधारण अभ्यास भी बहुधा अपवेशन का रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति स्वभावतः पहले बायें पाँव में जूता पहनता है, और बाद में दाहिने पाँव में। अब कल्पना कीजिए कि एक दिन अन्यमनस्कता के कारण उसने पहले दाहिने पाँव

में जूता पहन लिया। इतने दिनों से उसने जो क्रम बाँध लिया था उसमें यह आकस्मिक परिवर्तन होने से जब तत्काल उसकी चेतना जाग्रत् हो उठेगी, तो सौ में अस्सी प्रतिशत सम्भावना इस बात की है कि वह किसी अज्ञात भावी आशंका से भीत हो उठेगा। आशंका का यद्यपि कोई उपयुक्त कारण नहीं है, तथापि मनुष्य का मन अन्ध-संस्कारों की ओर स्वभावतः इस क़दर प्रवृत्त रहता है कि अपने जीवन के किसी भी क्रम में लेशमात्र परिवर्तन होते ही वह किसी अजानित भय से घबरा उठता है। बहुत सम्भव है कि पूर्वोक्त व्यक्ति जूता उतारकर फिर नये सिरे से पहनना आरंभ करेगा, और इस बार अपने पूर्व अभ्यासानुसार बाँयें पाँव के जूते को ही पहले पहनेगा।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सब समय इस आशंका से ग्रस्त रहते हैं कि कहीं किसी ज़रिये से कोई विषैला पदार्थ उनके पेट में न चला जाय। इसलिए वे खाना खाने के पहले नियमित रूप से अपने दोनों हाथों को अच्छी तरह धो लेते हैं। मान लिया जाय कि इस प्रकार के अभ्यासवाला कोई व्यक्ति एक बार बिना हाथ धोये ही खाना खाने बैठ गया। यह निश्चित है कि भोजन परोसे जाने पर जब वह उस पर हाथ लगाना चाहेगा, तो उसका हाथ अपने-आप सिकुड़ जायगा और उसके मन में यह भ्रम बना रहेगा कि उसके हाथ में निश्चय ही किसी गन्दी चीज़ को स्पर्श करने के कारण कुछ विषैले कीटाणु रह गये होंगे। दिन में किन-किन वस्तुओं को उसने छुआ था, उन्हें स्मरण करने में उसका कुछ समय बीत जायगा। मित्रों के हास्य का पात्र बनने के भय से वह चौके पर से उठकर हाथ धोने का साहस नहीं करेगा। मन मारकर वह जब एक कौर उठाकर मुँह में डालेगा, तो सन्देह का यह कीड़ा उसके मन को कुरेदता रहेगा कि कोई विषैला कीटाणु उसके पेट में चला गया है। धीरे-धीरे यह सन्देह ऐसा

विकट रूप धारण कर लेगा कि सारा भोजन उसके लिए विष-तुल्य हो जायगा और वह कल्पित विष वास्तव में अपना 'प्रभाव' दिखाना आरंभ कर देगा। उसका जी मतलाने लगेगा, और सम्भवतः उलटी होने लगेगी। इस प्रकार के 'अपवेशन'-मूलक भय के दृष्टान्त रात-दिन के जीवन में पाये जाते हैं। इस प्रकार का आशंका-जनित अपवेशन आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में 'ऐंग्ज़ाइटी न्यूरोसिस' (Anxiety Neurosis) के नाम से परिचित है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके मन में, ज्ञात या अज्ञात में, सब समय यह आशंका बनी रहती है कि कोई छिपकली किसी दिन छत या दीवार पर से उनके ऊपर आ गिरेगी। इस भावना से वे प्रतिपल ऐसे पीड़ित रहते हैं कि छिपकली का नाम सुनते ही उन्हें बुखार-सा आने लगता है। इस प्रकार के व्यक्ति कभी-कभी यह अमूलक आशंका मन में पोषित किये रहते हैं कि जिस दिन उनके ऊपर कोई छिपकली गिरेगी उस दिन निश्चय ही कोई भयंकर विपत्ति उनके परिवार पर आ टूटेगी। इस प्रकार के 'अपवेशन' को मनोविज्ञानवेत्तागण 'फोबिया' (Phobia) कहा करते हैं। हमारे देश के बड़े-बड़े समझदार, शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्तियों पर इस प्रकार के कुसंस्कारों का भूत चौबीसों घण्टे सवार रहता है। इस प्रकार के छोटे-छोटे कुसंस्कारों और हास्यास्पद आशंकाओं से कितने लोगों के जीवन का सारा क्रम ही अस्त-व्यस्त हो जाता है, इसका ठिकाना नहीं।

डा० जॉनसन का विचित्र स्वभाव

इँग्लैंड के सुप्रसिद्ध मनीषी डा० जॉनसन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जब वह रास्ते में चलता था, तो जितने भी खम्भे उसे मिलते थे, प्रत्येक को वह हाथ से एक बार छू लेता था। यदि संयोग से कोई खम्भा छूने से रह जाता, तो वह

लौटकर फिर उस खम्भे को छू आता, और तब आगे बढ़ता। इस नियम में उसके जीवनकाल में कभी एक दिन के लिए भी व्यतिक्रम नहीं हुआ। इस प्रकार के अपवेशन से वह सदा कष्ट पाता रहा, पर कभी उसे छोड़ न सका। उसके मन में यह आशंका बनी हुई थी कि यदि कभी वह एक बार के लिए भी इस नियम को तोड़ डाले, तो उसके ऊपर अवश्य ही किसी घोर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ेगा।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने स्कूल, कालेज या आफ़िस में किसी एक विशेष दरवाज़े से भीतर जाने के आदी होते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी क्षणिक अन्यमनस्कता के कारण दूसरे दरवाज़े से जाने लगते हैं, तो तत्काल वे सचेत हो उठते हैं और लौटकर फिर उसी अभ्यस्त दरवाज़े से होकर भीतर प्रवेश करते हैं। इस प्रकार के अपवेशनों के अनन्त उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

साधारण बुद्धि ही उपचार है

यदि मनुष्य साधारण बुद्धि से काम ले और इच्छा-शक्ति का थोड़ा-सा प्रयोग करे, तो इस प्रकार के अपवेशनों से वह सहज में अपना पिण्ड छुड़ा सकता है। असल बात यह है कि मनुष्य रूढ़िवादी होता है। प्रारम्भ में वह अपनी अन्तश्चेतना की किसी विशेष प्रेरणा से प्रेरित होकर, अथवा अकारण ही किसी एक क्रिया का आदी हो जाता है। समय के प्रभाव से वह अभ्यास एक रूढ़ि बन जाता है। किसी रूढ़ि को तोड़ने का भय मनुष्य ने अपने पूर्वज, आदिकालीन वर्वर-जातीय मनुष्यों से पाया है। प्राथमिक युग के मनुष्य अपने-अपने गिरोहों की संगठनात्मक संरक्षा के उद्देश्य से कुछ कड़े नियम बना लेते थे, और कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं पर कठोर निषेधाज्ञा

आरोपित कर देते थे, इस निषेधाज्ञा को 'टैबू' (Taboo) कहते हैं। गिरोह का जो व्यक्ति किसी भी निषेधाज्ञा का उल्लंघन करता था उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। मृत्यु-भय के कारण धीरे-धीरे दलपतियों-द्वारा प्रचलित उन सामाजिक नियमों का पालन बड़ी कड़ाई के साथ होने लगा, और वे रूढ़ि में परिणत हो गये। इन रूढ़ियों का पालन मनुष्य युग से युगान्तर तक करता आ रहा है, भले ही बाह्य रूप से वह सभ्य और सुसंस्कृत बन गया हो। केवल इतना ही नहीं, उसकी सारी मनोवृत्ति रूढ़िवादी बन गई है। साधारण सामाजिक या धार्मिक रूढ़ियों का पालन वह अपनी अज्ञात चेतना में दबे हुए मृत्यु-भय के कारण करता है। यदि इस जीव-वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्य से कोई अपवेशन-ग्रस्त व्यक्ति परिचित हो जाय तो उसे विश्वास हो जायगा कि उसके किसी बालोचित, हास्यास्पद नियम के क्रम में किसी दिन कोई परिवर्तन हो जाने से उस पर आसमान नहीं टूट पड़ेगा, क्योंकि उस नियम को उसने केवल अपनी रूढ़िवादी प्रकृति के अन्धसंस्कार के कारण अपनाया है, किसी अज्ञात दैवी शक्ति का उसमें कोई हाथ नहीं है।

फ्रॉयड-प्रमुख मनोविश्लेषकों का कहना है कि रूढ़िवादी मनोवृत्ति के अतिरिक्त अपवेशनों के मूल में व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन की कोई घटना या क्रिया छिपी रहती है। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति को सब समय अपने हाथों को धोते रहने की आदत पड़ जाती है, वह छुटपन में निश्चय ही किसी बुरी टेव का आदी रहा होगा, जिसके कारण हाथों के गन्दे रहने की ग्लानि उसके परवर्ती जीवन में प्रतिक्षण अज्ञात रूप से बनी रहती है, पर उसका सचेत मन यह बहाना ढूँढ़कर अपना सन्तोष कर लेता है कि वह वास्तव में कीटाणुओं के भय से हाथ धोता रहता है।

कुछ भी हो, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-द्वारा बाल की खाल निकालने का उद्देश्य वर्तमान पुस्तक का नहीं है। हमारा मूल उद्देश्य अकारण अथवा सकारण दुश्चिन्ताओं और आशंकाओं से ग्रस्त व्यक्तियों के मन में साधारण बुद्धि का भाव जाग्रत करना है। उन्हें उनके अन्धसंस्कारों से आच्छन्न जीवन के क्रम को परिवर्तित तथा संशोधित करने के लिए प्रेरित करना है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हम परवर्ती प्रकरणों में आगे बढ़ने का प्रयास करते रहेंगे।

क्षतिपूर्ति के विकृत रूप (१)

जितने भी प्रकार के भय हैं, उन सबका मूल कारण पहले ही बताया जा चुका है। वह यह कि व्यक्ति शैशवकाल में अपनी स्वाभाविक तथा वातावरणोत्पन्न असहायावस्था, असमर्थता और हीनता की अनुभूति से मुक्ति पाने के प्रयास में जब असफल होता है, तब उसे जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध की नाना प्रकार की अज्ञात आशंकायें आ घेरती हैं। शैशव-काल में जिस प्रकार की मूल भावनायें उसके मन में बद्धमूल हो जाती हैं वे आजीवन उसका साथ नहीं छोड़तीं, यद्यपि परिस्थितियों के अनुसार उनके बाह्य रूप बदलते रहते हैं।

अतिरिक्त क्षति-पूर्ति

पर इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्षति-पूर्ति का जो नियम सृष्टि-चक्र के सब रूपों में वर्तमान है, मनुष्य के मानसिक विकास के क्षेत्र में भी उसका व्यतिक्रम नहीं दिखाई देता। पहले ही कहा जा चुका

है कि जब मनुष्य की कोई विशेष कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय अशक्त होती है, तो वह अपनी किसी दूसरी इन्द्रिय के सविशेष विकास-द्वारा अपने शरीर की उस क्षति की पूर्ति कर लेता है। केवल यही नहीं, बल्कि उस कमी को पूरा करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता है, उससे भी अधिक शक्ति का सञ्चय वह अपनी दूसरी इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों-द्वारा कर लेता है। इस अतिरिक्त क्षति-पूर्ण को विश्वविख्यात मनोवैज्ञानिक आल-फ्रेड आडलर ने Over-compensation कहा है। उदाहरण के लिए जो बच्चे जन्म से ही निपट अन्धे होते हैं, वे अपनी श्रवण-शक्ति का विकास किस हद तक कर लेते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। अपनी श्रवण-शक्ति को बढ़ाकर वे उससे केवल अपनी दृष्टि-शक्ति की कमी को ही पूरा नहीं करते, बल्कि बाह्य शब्दों के भीतर छिपे हुए सङ्गीत-स्वर को भी ग्रहण कर लेते हैं। यह दूसरी विशेषता ही अतिरिक्त क्षति-पूर्ति है। अर्थात् अपनी शारीरिक और पार्थिव कमी को पूरा करने के लिए जितनी शक्ति को बढ़ाने की आवश्यकता रहती है, उतना तो वे बढ़ाते हैं, बल्कि सङ्गीत का ज्ञान बढ़ाकर वे कुछ ऊपरी शक्ति भी बढ़ा लेते हैं। यही कारण है कि संसार के प्रसिद्ध गायकों और कवियों में हम सूरदासों का प्रमुख स्थान पाते हैं।

हम एक ऐसे प्रतिभाशाली सङ्गीतज्ञ को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं जिनका दाँया हाथ जन्म से ही निकम्मा था। अपनी इस जन्मगत कमी को उन्होंने केवल अपने शरीर के अन्य अंगों के विकास-द्वारा ही पूरा नहीं किया, बल्कि मानसिक और बौद्धिक विकास-द्वारा भी किया। मौखिक सङ्गीत की प्रतिभा उनमें बहुत छुटपन से दिखाई देने लगी। बाद में उन्होंने वाद्य-सङ्गीत की ओर भी ध्यान दिया। दाँया हाथ लूला होने से वे

उससे काम नहीं ले सकते थे। अतएव उनके पाँव ने इस क्षति की पूर्ति कर दी। धीरे-धीरे वे अपने बायें हाथ और दाहिने पाँव के सहारे से वाद्य-कला में ऐसी विशिष्टता प्राप्त कर गये, जैसी सशक्त अंगोंवाले सङ्गीतज्ञ भी प्राप्त न कर सके।

इन सब कारणों से मनुष्य की जन्मजात अथवा वातावरणोत्पन्न असमर्थता जहाँ एक ओर उसे भय और दुश्चिन्ताओं का शिकार बनाकर उसे निकम्मा बना सकती है, वहाँ दूसरी ओर उसे क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार उसी प्रकार सशक्त और प्रतिभाशाली बनाने में भी सहायक सिद्ध हो सकती है।

बाल्यकाल में व्यक्ति अपनी परिस्थितियों और वातावरण का दास रहता है। इसलिए यद्यपि उस छोटी अवस्था में ही उसके भावी जीवन के व्यक्तितत्व का साँचा तैयार हो जाता है, तथापि यह बात उसके वश की नहीं रहती कि वह क्षतिपूर्ति के नियम को किस रूप में अपनावे। इसलिए उसके माता-पिता अथवा अभिभावकों को चाहिए कि बच्चे के मानसिक विकास के साधारण से साधारण पहलू पर भी विशेष रूप से ध्यान दें, और उसे मनोवैज्ञानिक सहानुभूति-द्वारा उचित मार्ग पर नियोजित करने का प्रयास करते रहें। इस विषय पर यथास्थान विस्तृत रूप से विचार किया जायगा।

प्रत्येक बच्चा अपनी हीनता और असमर्थता से छुटकारा पाने के लिए अपने अज्ञान में छटपटाता रहता है, और किसी न किसी रूप में अपनी उस स्वाभाविक क्षति की पूर्ति अवश्य करता है। अपनी जन्मजात अक्षमता को दूर करने के उद्देश्य से उसके अन्तर्मन में शक्ति प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा जागरित हो उठती है, और वह जीवन-भर नाना उपायों से शक्ति सञ्चय करने की चेष्टा करता हुआ, विभिन्न रूपों में अपनी उस सञ्चित शक्ति का प्रदर्शन करता रहता है। मनुष्य की

वर्तमान सभ्यता के विकास का जो विराट् रूप (चाहे वह देवी हो या दानवी) हम देखते हैं, वह उसकी मूलगत हीनता के कारण उत्पन्न शक्ति-प्राप्ति की इस स्वाभाविक आकांक्षा का ही फल है।

अब यह बात व्यक्ति के शैशवकालीन वातावरण पर निर्भर करती है कि उसकी यह शक्ति सञ्चय की, दूसरों पर विजय प्राप्त करने की, बड़प्पन की; दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की सहज प्रवृत्ति कौन-सा रूप धारण करेगी। साधारणतः यह विजयाकांक्षा दो प्रधान रूपों में अपने को व्यक्त करती है—एक विकृति और दूसरी समुन्नति।

विकृत क्षतिपूर्ति का निष्क्रिय स्वरूप

इस विकृति को भी हम दो श्रेणियों में विभाजित करना पसन्द करेंगे—एक सकारात्मक और दूसरी नकारात्मक; एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। अब पहले यह देखा जाय कि विकृत विजयाकांक्षा की नकारात्मक (निष्क्रिय) प्रवृत्ति किन-किन विचित्र रूपों में अपने को व्यक्त करती है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, बच्चा अपने विकास के किस उपाय का अवलम्बन ग्रहण करेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह कैसे वातावरण में पलता है, और उसके मा-बाप का रुख़ या व्यवहार उसके प्रति कैसा है। जिन बच्चों के प्रति माता-पिता जान-बूझकर या अनजान में अवज्ञा दिखाते हैं, जिन्हें बात बात में तिरस्कृत करते रहते हैं, अथवा जिनकी प्रत्येक चाल ढाल की हँसी उड़ाते हैं, उनके मन में स्थित स्वभाव-गत आत्मग्लानि का भाव और भी अधिक भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। वे परवर्ती जीवन में अपने को एकदम निकम्मा, हीन और सक्रिय प्रतियोगिता के लिए निपट अयोग्य समझकर बाह्य जगत् से सब सम्बन्ध त्याग देते हैं, और अपने अन्तर

के काल्पनिक जगत् में एक भौतिक वातावरण की सृष्टि कर लेते हैं। फल यह होता है कि जीवन भर ऐसे व्यक्ति आत्मग्लानि, भय और दुश्चिन्ता की भावना से ग्रस्त रहते हैं। यहाँ पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि भय और दुश्चिन्ता की यह भावना ही उन विकृत स्वभाव व्यक्तियों का महा अस्त्र है। परिवार और समाज के ऊपर विजय प्राप्त करने की उसकी स्वाभाविक मनोवृत्ति इसी 'निष्क्रिय प्रतिरोध' द्वारा चरितार्थ होती है।

बच्चों का क्रन्दन आत्मरक्षा का अस्त्र है

उदाहरण के लिए, जो बच्चा अपने को दूसरों की अपेक्षा उपेक्षित पाता है, वह अपने अनजान में, किसी रहस्यमय मनोवैज्ञानिक कारण से प्रेरित होकर जब भय की भावना का विकास कर लेता है, तो उसका फल यह होता है कि उसके माता पिता और घर के दूसरे लोग उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जिससे वह अकेले में घबरा न उठे। इसी प्रकार बहुत रोने-झीखनेवाले बच्चे भी अपने माता-पिता पर रोब गाँठे रहते हैं, क्योंकि ऐसे बच्चे की उपेक्षा यदि कोई करना भी चाहे, तो नहीं कर सकता; चाहे अपनी ही शान्ति-कामना के स्वार्थ से क्यों न हो, ऐसे बच्चे को मनाना ही पड़ता है। स्मरण रहे कि ऐसे बच्चे जान-बूझकर ऐसा नहीं करते, अर्थात् उनका सचेत मन यह नहीं जानता कि उन्होंने अपने उपेक्षित व्यक्तित्व का बदला लेने के लिए परिवारवालों पर अधिकार जमाने के उद्देश्य से इस उपाय का अवलम्बन किया है; पर उनकी अन्तश्चेतना इस उद्देश्य से भली-भाँति परिचित रहती है। बच्चों के मनोविज्ञान की विशेषता इसी बात पर है।

इस प्रकार के बच्चे जब बड़े होते हैं, तो अपने स्वभाव की विशेषता को जीवन-भर अपने साथ लिये फिरते हैं। बड़े होने

पर वे प्रतिपल अपनी अनाथ, असहाय अवस्था का रोना रोकर अपने सगे-सम्बन्धियों अथवा परिचित मण्डली को इस बात के लिए बाध्य करने की चेष्टा करते रहते हैं कि वे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें, और उनकी अवज्ञा तनिक भी न करें।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि मनुष्य की अन्तश्चेतना कैसे-कैसे विचित्र छल-छद्मों का प्रयोग करती रहती है। हमारे समाज में ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक है, जो कुटुम्ब के दूसरे लोगों के सम्बन्ध में हर घड़ी चिन्तित रहती हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार की चिन्ता से उन्हें सचमुच अनिद्रा का रोग हो जाता है। पर यदि सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी यह चिन्ता घोर स्वार्थ के भाव से भरी है। इसके द्वारा वे अपने अनजान में परिवार के लोगों को अपने स्नेह-बन्धन में बाँधे रहना चाहती हैं और इस प्रकार अपनी स्वाभाविक विजयाकांक्षा की पूर्ति करती हैं। हमारे समाज में विशेषकर विधवा स्त्रियों में यह मनोवृत्ति पाई जाती है। सभी जानते हैं कि हमारे यहाँ की विधवाओं की दशा कितनी दयनीय है। इसलिए उनकी अन्तश्चेतना यदि इस मनोवैज्ञानिक उपाय का अवलम्बन न करे, तो उनका अस्तित्व ही मिट जाय। यह बात हम फिर दोहरा देना चाहते हैं कि वे जान-बूझकर ऐसा नहीं करतीं। नहीं; यदि ऐसा होता तो उन्हें चिन्ता के कारण अनिद्रा रोग क्यों आ घेरता! उनका सचेत मन निश्चित रूप से इस बात पर विश्वास करता है कि घरवालों के सम्बन्ध में उनकी चिन्ता निःस्वार्थ भाव से प्रेरित हुई है। उनके घरवाले भी इस बात पर विश्वास करते हैं। दोनों पक्षों का यह विश्वास सम्पूर्ण स्वाभाविक और एक प्रकार से उचित ही है। पर मनुष्य की अन्तश्चेतना

या अज्ञातचेतना प्रतिपल अपने कूटचक्रों का रहस्यमय जाल तनती हुई हमारी जाग्रत् चेतना को ठगती रहती है।

शारीरिक रोगों का मनोवैज्ञानिक रहस्य

दूसरों पर प्रभाव जमाने के विकृत उपायों में से शारीरिक रोग भी एक है। हम व्यक्तिगत रूप से एक ऐसी स्त्री को जानते हैं जो परिवार में बहुत उपेक्षित थी; और एक धनी कुटुम्ब में ब्याही जाने पर भी कर्म के भार से पीड़ित रहती थी। सुखी जीवन का क्या आदर्श उसके मन में है, इस सम्बन्ध में वह अपनी सहेलियों से कहा करती थी कि जो स्त्री क्षयरोग से ग्रस्त होकर एक सुन्दर, सुकोमल शय्या पर लेटी हो, उसके परिजन और पुरजन उसकी सेवा-शुश्रूषा के निमित्त उसे घेरकर खड़े हों, उसके पति महाशय उसके रोग के कारण विशेष चिन्तित होकर सब समय उसके पास बैठे रहें, वही सबसे अधिक सुखी है।

वास्तव में उस स्त्री के पति महाशय उसके प्रति यथेष्ट उदासीन रहते थे। कुछ समय बाद उस स्त्री को वास्तव में क्षयरोग ने आ घेरा। फल यह हुआ कि उसके उदासीन पति महोदय स्वभावतः चिन्तित होकर उसकी शुश्रूषा में व्यस्त रहने लगे और चिन्ता के कारण परिवार के दूसरे लोगों की भी उदासीनता उसके प्रति न रही। इस विकृत उपाय से उक्त स्त्री ने कुटुम्बवालों को अपने बन्धन में बाँध लिया, और दूसरों पर अधिकार जमाने की मनोवृत्ति को सन्तुष्ट किया।

यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि इस विकृत उपाय से यदि उक्त स्त्री ने परोक्ष रूप से अपने कुटुम्ब के लोगों पर अधिकार जमा भी लिया, तो उसकी अन्तश्चेतना ने इसकी क्या उपयोगिता सोची? उसका स्वास्थ्य नष्ट हुआ, जीवन बरबाद हुआ, यौवन की सब उमंगें मिट्टी में मिल गईं। उसे

लाभ क्या हुआ ? निस्सन्देह उसे कोई लाभ नहीं हुआ; पर मनुष्य की प्रभुत्वाकांक्षा स्वभावतः ऐसी भयङ्कर और प्रबल होती है कि यदि अपने को नेस्त-नाबूद करके भी वह कुछ ही समय के लिए कैसे ही विकृत रूप में उसे चरितार्थ कर सके, तो इसी बात को वह परम लाभ समझता है। यदि यही आकांक्षा समुन्नत रूप धारण करने और सुसंस्कृत उपायों का सहारा पकड़े, तो उससे व्यक्ति और समाज दोनों का हित हो सकता है। पर यह विषय वर्तमान प्रकरण का नहीं है, इसलिए हम फिर अपने विषय पर आते हैं।

बहुत-से मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति केवल दूसरों पर प्रभुत्व जमाने के लिए ही नहीं, अप्रिय परिस्थितियों से छुटकारा पाने के उद्देश्य से भी रोगों को अपने पास बुला लेते हैं। स्कूलों और कालेजों में ऐसे लड़कों की संख्या कुछ कम नहीं पाई जाती, जो परीक्षा के ठीक पहले बीमार पड़ जाते हैं। यह बीमारी बनावटी नहीं होती, पर इसका कारण मनोवैज्ञानिक होता है। छात्र जानता है कि परीक्षा देने पर वह सफल नहीं हो सकेगा, इसलिए उसकी अन्तश्चेतना रोग का सहारा पकड़ लेती है और इस उपाय से वह अपने सगे-सम्बन्धियों, अध्यापकों और सहपाठियों को तो भ्रम में डालता ही है, इसके अतिरिक्त वह अपने-आपको भी ठगता है। यद्यपि उसकी अन्तश्चेतना भली-भाँति जानती है कि वह परीक्षा में सफल न हो पाता, पर बीमार पड़ जाने से उसका जाग्रत् मन इस भ्रामक विश्वास से सन्तोष प्राप्त करता है कि यदि वह अस्वस्थ न होता, तो सम्भवतः 'पास' हो जाता ! बीमार पड़ने के पहले वह अपने आपको नहीं ठग पाता था, इसलिए बेचैन हो रहा था, पर बीमार हो जाने से उसके मन को एक बहाना मिल गया और अशान्ति दूर हो गई। इस कल्पना से मनुष्य के आत्म-सम्मान

को चोट पहुँचती है कि वह किसी विशेष कार्य में सफलता प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखता, इसलिए उसकी अज्ञात चेतना निरन्तर कोई ऐसा बहाना ढूँढ़ती रहती है, जिससे व्यक्ति अपनी स्वभावगत अयोग्यता का दोष किसी बाहरी परिस्थिति पर मढ़ सके।

हिस्टीरिया

समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या यथेष्ट पाई जाती है, जो अपनी स्वाभाविक असमर्थता और अयोग्यता के कारण अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में असफल हो जाने से कुछ विशेष प्रकार के रोगों को अपने शरीर में जीवन भर पालते रहते हैं। इस सम्बन्ध में विचित्र बात यह है कि यदि कोई डाक्टर किसी ऐसे व्यक्ति के पोषित रोग को दूर कर दे, तो उस स्वस्थ अवस्था में, उस व्यक्ति के लिए जीवन भयङ्कर भार-स्वरूप हो जाय। इसलिए ऐसा रोगी कभी अपनी बीमारी का इलाज कराना नहीं चाहता। वास्तविक तथ्य यह होता है कि ऐसे रोगी को अपनी पाली हुई बीमारी से यह सन्तोष प्राप्त करने का बहाना मिल जाता है कि "यदि यह रोग मुझे न घेरे होता तो मैं बहुत बड़ा आदमी बन सकता था! वात, कोष्ठबद्धता, अर्श, दमा आदि रोग, जो जीवन भर साथ लगे रहने पर भी प्राणघाती नहीं होते, बहुधा पाले हुए मनोवैज्ञानिक रोग होते हैं। मनोवैज्ञानिक रोगों की 'लिस्ट' बहुत लम्बी है। बहुत-से फोड़े भी मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। हिस्टीरिया-ग्रस्त व्यक्तियों के बहुत-से काल्पनिक तथा वास्तविक रोग भी मनोवैज्ञानिक होते हैं। ऐसे व्यक्ति जब अपने सामने कोई ऐसा कर्तव्य का भार पड़ा देखते हैं, जिसे वहन की समर्थता वे अपने में नहीं पाते, तो अपने शरीर के किसी भाग को पक्षाघात-ग्रस्त

कर लेते हैं। इस प्रकार उन्हें कर्तव्य-भार से छुट्टी मिल जाती है। हिस्टीरिक स्वभाव की स्त्रियों के रोगों के निदान में बड़े-बड़े होमियोपैथिक और ऐलोपैथिक डाक्टर चक्कर में पड़ जाते हैं। ऐसे डाक्टरों से उनका इलाज कराना भी नहीं चाहिए, क्योंकि उनके रोगों के कारण मानसिक होते हैं, न कि शारीरिक; यद्यपि बाहरी लक्षण स्पष्ट रूप से शारीरिक जान पड़ते हैं। ऐसी स्त्रियाँ कभी उलटी करती हैं, कभी पेट में दर्द बताती हैं, कभी कमर में; कभी उनके पाँवों के टखने दुखने लगते हैं, कभी कुहने; कभी सिर-दर्द से परेशान रहती हैं, तो कभी कान के भीतर पीड़ा बताती हैं; आँख, कान, नाक, दाँत, ठुड्डी, ग़रज़ यह कि शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ समय-असमय ऐसी स्त्रियाँ अकारण ही पीड़ा का अनुभव न करती रहती हों। एक बार एक हिस्टीरिक स्त्री ने अपनी एक आँख की पुतली के भीतर भयङ्कर दर्द बताया। एक ऐलोपैथिक डाक्टर महाशय ने, जो चक्षुरोग के विशेषज्ञ थे, परीक्षा के बाद यह बताया कि वास्तव में आँख के भीतर कोई ख़राबी आ गई है। उन्होंने उस आँख का आपरेशन कर दिया। बाद में मालूम हुआ कि आँख में कोई भी ख़राबी नहीं आई थी, हिस्टीरिक स्त्री की भ्रामक पीड़ा मनोवैज्ञानिक कारण से उत्पन्न हुई थी। आपरेशन से आँख सदा के लिए नष्ट हो गई। उसी प्रकार बहुत-से विशेषज्ञ डाक्टर हिस्टीरिक स्त्रियों की पाकस्थली या गर्भाशय के भीतर के काल्पनिक फोड़ों का आपरेशन करने पर उतारू हो जाते हैं, और उन्हें अकारण ही अपने घातक इलाज-द्वारा मृत्यु का शिकार बना देते हैं।

हमारे समाज की स्त्रियाँ बहुत अधिक संख्या में हिस्टीरिया से ग्रस्त रहती हैं। केवल उसी स्त्री को हिस्टीरिया-पीड़ित समझना भयङ्कर भूल है जिसे समय-समय पर बेहोशी के-से 'फिट'

आते रहते हों। बात-बात में खीझनेवाली, किसी तुच्छ कारण से उत्तेजित अथवा भयभीत हो उठनेवाली, बात बात में, कमर टूटने की शिकायत करनेवाली, अपने सगे-सम्बन्धियों के स्वास्थ्य और कुशल के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित-रहनेवाली तथा और भी इसी प्रकार की भावुकतापूर्ण मानसिक विशेषताओंवाली स्त्रियों को 'हिस्टीरिक' समझना चाहिए।

हमारे देश में विवाह के बाद से ही बहुधा स्त्रियों को नाना रोग आ घेरते हैं। उनमें से कुछ रोग निस्सन्देह विशुद्ध शारीरिक कारणों से उत्पन्न होते हैं, पर अधिकांश रूप से वे मनोवैज्ञानिक होते हैं। पति की उदासीनता, सास-ननद के अत्याचार और आवश्यकता से अधिक सामाजिक शासन और बन्धन के कारण हमारी स्त्रियाँ बहुत पीड़ित रहती हैं। अपने मन के अतल प्रदेश में दबे हुए भावोद्गारों को स्पष्ट रूप से प्रकट करने की सुविधा उन्हें प्राप्त नहीं होती। इसलिए वे अपने उन दबे हुए मनोविकारों को शारीरिक रोगों के रूप में परिणत करके अपने प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं। ऐसी स्त्रियों की ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक अथवा आयुर्वैदिक चिकित्सा करने से विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं है, बल्कि हानि ही हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी स्त्रियों के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करके उनके मानसिक अवसादों अथवा विकृतियों और उनके अन्तस्तल में दबी हुई सुख-दुःख की यथार्थ भावनाओं की जानकारी प्राप्त की जाय। इसके बाद उन्हें धीरे-धीरे यह समझाया जाय कि भावुकता को अत्यधिक मात्रा में पोषित किये रहना हानिकर है; भावुकता को कम करके जीवन की कठोर वास्तविकता को अपनाने से हिस्टीरिया के सब विकार दूर हो जाते हैं।

क्षति-पूर्ण के जितने भी नकारात्मक विकृत उपाय हैं, वे सब जीवन की वास्तविकता से विमुख होनेवाले व्यक्तियों की बहाने-

बाज़ी के साधन हैं। ऐसे व्यक्तियों को यदि उनकी मनोवृत्ति से परिचित कराके उनके मन पर यह विश्वास जमा दिया जाय कि वे अपने आपको धोखा देने के लिए इन उपायों का अवलंब ग्रहण किये हैं, तो वे सँभल जायँगे, और अपनी जीवन-धारा को समुचित मार्ग पर ले चलने की ओर उन्मुख होंगे। आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का यही ढंग है। रोगी के सचेत मन को यदि उसकी अन्तश्चेतना की चालबाज़ी का रहस्य मालूम हो जाय तो उसकी बीमारी दूर हो जाती है।

पागलपन, शराबख़ोरी, चोरी-चकारी आदि और भी बहुत-से नकारात्मक विकृत उपाय हैं, जिनके द्वारा कुछ विशेष प्रकार के लोग अपनी स्वभावगत कमी की पूर्ति करना चाहते हैं।

क्षतिपूर्ति के विकृत रूप (२)

दुर्बल-प्राण व्यक्तियों की क्षति-पूर्ति के जितने भी सकारात्मक विकृत उपाय हैं, उनमें अहंकार सबसे प्रधान है। अहंकार की भावना एक सीमित परिमाण में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वभावतः वर्तमान रहती है, पर कुछ विशेष-विशेष प्रकार के व्यक्तियों में इसकी उत्कट प्रधानता दिखाई देती है। जिन बच्चों को माता-पिता लाड़ के कारण बहुत मुँह लगाते हैं, अथवा जिन्हें बहुत अधिक दुरदुराते हैं—इन दोनों श्रेणियों के बच्चे बड़े होने पर दाम्भिकता को अपना सामाजिक अस्त्र बनाकर अपने बड़प्पन की आकांक्षा को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। जिस व्यक्ति की बात से, व्यवहार से जितनी अधिक दाम्भिकता टपकती है, उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह धारणा कर लेनी चाहिए कि वह अपनी हीनता और क्षीणता की अनुभूति से उतना ही अधिक पीड़ित

है। उसका अहंभाव उस आत्मग्लानि के भाव की क्षतिपूर्ति के रूप में अपने को व्यक्त करता है।

अहंकार के विचित्र रूप

उजड्ड व्यक्ति अपनी दाम्भिकता को बड़े बेतुके ढंग से व्यक्त करके हँसी का पात्र बनते हैं। इसलिए चतुर दाम्भिक नाना छल-छद्मों-द्वारा अपना अहंभाव प्रदर्शित करते रहते हैं। अत्यधिक विनम्रता और शिष्टता की आड़ में अत्यन्त भयंकर प्रकार का अभिमान प्रकट करनेवाले व्यक्तियों की संख्या इस संसार में आवश्यकता से अधिक पाई जायगी। महात्मा सुक़रात की भेंट एक बार एक ऐसे व्यक्ति से हुई जो फटे-पुराने कपड़े पहने हुए था और जीवन की दार्शनिकता के सम्बन्ध में सुक़रात से वाद-विवाद करके उससे बाज़ी मार ले जाने की इच्छा रखता था। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस व्यक्ति की इच्छा दार्शनिकता का ज्ञान प्राप्त करके अपने आन्तरिक जीवन में उसके उपभोग से लाभ उठाने की नहीं, बल्कि व्यर्थ के विवाद से महात्मा सुक़रात के ऊपर विजय प्राप्त करने की थी। सुक़रात ने उसकी इस मनोवृत्ति से परिचित होकर उससे कहा—"भले आदमी, तुम्हारे फटे कपड़ों के प्रत्येक छिद्र से तुम्हारी दाम्भिकता झाँक रही है!"

अहंकार का भाव मनुष्य को आत्म-विनाश के पथ पर ले जाता है, यह चेतावनी प्राचीनतम काल से ज्ञानी लोग देते चले आये हैं। 'अहंकार' के शाब्दिक अर्थ से ही यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार की मनोवृत्तिवाला व्यक्ति प्रतिपल केवल अपने ही सम्बन्ध में सोचता रहता है। उसकी प्रत्येक चाल-ढाल, बात-व्यवहार और रंग-ढंग से उसके अन्तर के घोर स्वार्थ की भावना, दूसरों पर धाक जमाने और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की सक्रिय मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

ऐसा आत्मगत जीव वास्तविकता से विमुख होकर अपने झूठे बड़प्पन के काल्पनिक जगत् में रहने लगता है। प्रत्येक बात से, प्रत्येक घटना से वह केवल यह निष्कर्ष निकालना चाहता है कि उससे उसे कितना लाभ हो सकता है और कितनी हानि। उसके लिए संसार के दूसरे व्यक्ति केवल अहंभाव की पूर्ति के साधन होने चाहिए, इसके अतिरिक्त उनके अस्तित्व की और कोई उपयोगिता नहीं है! पर चूँकि यह धारणा एकदम अप्राकृतिक और अवास्तविक है, इसलिए इस प्रकार के मनोभाववाले व्यक्ति पर उसकी प्रतिक्रिया स्वभावतः बड़े विकट रूप से है, जिसके कारण वह जीवनभर दुःखी रहता है।

महत्त्वाकांक्षा भी अहंकार है

चतुर अहंकारियों की यह साधारण चाल है कि वे अपने अहंभाव को 'महत्त्वाकांक्षा' कहकर लोगों को धोखा देना चाहते हैं। जिसे हम लोग साधारणतः व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा कहते हैं, वह अधिकांशतः घोर स्वार्थ से उत्पन्न उत्कट दम्भ का ही दूसरा रूप होता है। यह केवल शब्दजाल-द्वारा व्यक्ति की वास्तविक मनोवृत्ति को छिपाने की कला है। 'अध्यवसायी', 'परिश्रमी', 'कर्मठ' आदि शब्दों को भी 'दंभी' अथवा 'अहंकारी' का पर्यायवाची समझना चाहिए। अत्यधिक कर्मचेष्टा विरले ही व्यक्तियों में निःस्वार्थ भाव से प्रेरित होती है; अधिकांशतः यही देखा जाता है कि दूसरों पर अपनी धाक जमाने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति विशेष उद्योगी अथवा कर्मठ बनकर अपनी अभिमानी मनोवृत्ति को चरितार्थ करते हैं।

जिन लोगों की यह धारणा है कि व्यक्ति में महत्त्वाकांक्षा की मनोवृत्ति जगाना समाज के लिए कल्याणकर है, वे यह भूल जाते हैं कि अधिकांशतः व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ के लिए ही

इस भावना का विकास करता है; अपनी तथा कथित महत्त्वाकांक्षा-द्वारा वह समाज का हित करने के बजाय अहित ही अधिक करता है। वह समाज के दूसरे व्यक्तियों को यह जताना चाहता है कि देखो, मेरा लक्ष्य कितना ऊँचा है! मैं तुम लोगों से कितना ऊपर हूँ! समाज का यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष कला में अपनी प्रतिभा का परिचय दे, तो उसकी प्रतिभा तब तक स्वार्थ-जनित दंभ का ही दूसरा रूप समझी जायगी, जब तक वह समाज के वास्तविक हित-साधन के उपयोग में न लाई जाय।

हमारे समाज में—केवल हमारे समाज में ही नहीं, बल्कि सारे सभ्य संसार में—आज दिन दाम्भिकता की होड़-सी लगी हुई है। समाज का कोई व्यक्ति जब किसी क्षेत्र में अपने अहंभाव को विशेष रूप से चरितार्थ करके दूसरों को नीचा दिखाना चाहता है, तो दूसरे भी स्वभावतः उसे अपनी असली या नक़ली विशेषताओं के प्रदर्शन-द्वारा अपनी दाम्भिकता का परिचय देने के लिए उत्सुक रहा करते हैं। इन सब लोगों के लिए समाज के सामूहिक कल्याण का प्रश्न कुछ महत्त्व नहीं रखता। उनके लिए जीवन एक ऐसा क्रीड़ा-क्षेत्र है जिसमें दंभ की प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त कोई महत् कार्य-साधना नहीं चल सकती। कोई विपुल धन-सञ्चय-द्वारा अपनी दाम्भिकता प्रदर्शित करता है, कोई लेखों और पुस्तकों-द्वारा अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने की चेष्टा करता है, कोई राजनीतिक क्षेत्र में देशभक्ति का कवच पहनकर, प्लेटफ़ार्म पर से भक्त श्रोताओं को अपनी वाग्धारा से मोहित करते हुए अपनी अहम्मन्यता की तुष्टि करता है।

हिटलर का उदाहरण

अपने अहंकार की चरितार्थता के लिए मनुष्य जितना श्रम करता है, उसका सौवाँ हिस्सा भी यदि सच्चे हृदय से वह

समाज की हित-साधना के लिए व्यय करे, तो उसकी आत्मा को भी शान्ति मिले, और समाज भी उपकृत हो। हिटलर ने बहाना तो यह पकड़ा कि वह जर्मन जनता को विगत महायुद्ध के अत्याचार के पीड़न से मुक्त करना चाहता है। जर्मनों ने भी उसकी इस दाम्भिक उक्ति की सामूहिक उपयोगिता पर विश्वास कर लिया। पर वास्तव में वह अपनी व्यक्तिगत अहम्मन्यतापूर्ण मनोवृत्ति को चरितार्थ करना चाहता था। छुटपन में वह अपने पिता-द्वारा दुरदुराया गया, बाद में उसके सहपाठियों ने उसका मज़ाक उड़ाया। इन सब कारणों से उसकी आत्मग्लानि की भावना तीव्र से तीव्रतर होती गई, और साथ ही क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार उसके भीतर बड़प्पन और विजयाकांक्षा का भाव प्रबल होने से उसकी दाम्भिकता भी ज़ोर मारती गई। प्रारंभिक जीवन में दुरदुराये गये किसी व्यक्ति की प्रतिहिंसात्मक अहम्मन्यता बढ़ते-बढ़ते कैसा भीषण रूप धारण कर सकती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम आज हिटलर के काले कारनामों से पा रहे हैं। सारे योरप पर अपना पैशाचिक प्रकोप दिखाने पर भी उसकी उद्दण्ड अहम्मन्यता की ज्वाला शान्त नहीं होना चाहती, उसकी दानवी विजयाकांक्षा सारे विश्व को ग्रस कर भस्मासुर की तरह स्वयं उसका भी सर्वनाश करना चाहती है।

केवल हिटलर ही नहीं, इस समय संसार में जितने भी 'डिक्टेटर' हैं, उनके प्रारम्भिक जीवन का इतिहास पढ़कर उस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिपात कीजिए, तो पता चलेगा कि बचपन में उन्हें अपनी हीनता की अनुभूति से बहुत अधिक पीड़ित होना पड़ा है, इसलिए परवर्ती जीवन में वे अतिरिक्त क्षति-पूर्ति के नियम से सारे राष्ट्र पर अपना रोब जमाकर अत्यन्त निर्मम नीति के निष्ठुर नियन्ता बने हैं। हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन—सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।

अहम्मन्यता इतने विचित्र, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूपों में अपने को व्यक्त करती है जिनकी संख्या का ठीक-ठीक निरूपण करना कठिन है। कुछ लोग अपने को बेतकल्लुफ़ और स्पष्टवक्ता कहकर अभिमान के दोष से मुक्त होना चाहते हैं, पर अपनी 'बेतकल्लुफ़ी' की आड़ में वे अपनी परिचित मण्डली के आगे अपने अभिमान-दग्ध हृदय के फफोले फोड़ लेते हैं। अभिमानी व्यक्ति को जब किसी निमन्त्रण में जाना होता है, तो वह देर से जाना पसन्द करता है। इस उपाय से वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। सभी निमंत्रित व्यक्तियों के साथ उसकी गणना समान रूप से हो यह वह नहीं चाहता, इसलिए वह अवश्य ही कोई-न-कोई ढंग ऐसा पकड़ता है, जिससे उसके प्रति लोग विशेष रूप से ध्यान दें। उदाहरण के लिए, ऐसा व्यक्ति यदि अपने परिचित दस बीस सज्जनों के बीच में बैठा हो, और इस बात पर ग़ौर करे कि उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है, तो वह अतिरिक्त शब्द के साथ खाँस उठेगा, या गरमी का बहाना करके कमरे की एक-आध खिड़की खोल देगा, या अकस्मात् कोई ऐसा काम करेगा, जिससे जमी हुई सभा की कार्य-प्रणाली में कुछ विघ्न हो जाय। इस प्रकार के छोटे-मोटे व्यवहारों से ऐसे व्यक्तियों की आत्माओं के मूल भावों का पता चलता है।

घमंडी मनुष्य प्रतिपल इसी चिन्ता में रहता है कि संसार में सबसे अधिक स्नेह उसी को मिले, सबसे अधिक सम्मान उसी को प्राप्त हो, सबसे अधिक ध्यान उसी की ओर दिया जाय। संसार के दूसरे मनुष्य उसके केवल 'मनुष्य' हैं, केवल वह एकमात्र ऐसा प्राणी है जो लोकोत्तर है! अहम्मन्यता एक आत्मघाती मानसिक रोग है जो स्वार्थ में डूबे हुए मनुष्यों को भयंकर रूप से आ घेरता है। ऐसे व्यक्ति अपने लिए और समाज के लिए समान रूप से

घातक सिद्ध होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्रारम्भ में ही उनके प्रत्येक कार्य के पीछे छिपे हुए मूलगत उद्देश्य से परिचित करा देना चाहिए। जिस उपाय से उनके मर्म में निम्न महोपदेश का तत्त्व प्रवेश कर जाय उसकी चेष्टा करनी चाहिए—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
('कामायनी')

अहम्मन्यता समाज-विरोधी प्रवृत्ति है

अभिमानी व्यक्ति से समाज स्वभावतः घृणा करता है। कारण यह है कि मानव-समाज का संगठन जिन नियमों के अनुसार हुआ है, अभिमानी व्यक्ति की घोर स्वार्थपूर्ण दाम्भिकता उन नियमों का छेदन करने लगती है। उसकी यह प्रवृत्ति व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग और समता की भावना के मूल में कुठाराघात करती है। इसलिए समाज ऐसे व्यक्ति को आगे नहीं बढ़ने देता। फल यह होता है कि अपने बड़प्पन की स्वार्थान्ध-प्रवृत्ति को धक्का पहुँचने से धीरे-धीरे ऐसा व्यक्ति निराशावादी बन जाता है और समाज तथा संसार से अलग होकर अपनी अहम्मन्यता के भार से स्वयं पिसता जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि अहंभाव एक परिमित परिमाण में होना मानवात्मा के लिए स्वाभाविक है। पर हमारे यहाँ के शास्त्रकारों का यह नीति-वचन विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि 'सर्वमत्यन्तगर्हितम्'—अत्यधिक मात्रा में कोई भी प्रवृत्ति निन्दनीय हो जाती है। जहाँ 'अतिदर्पे हता लंका,' वहाँ 'अति-दाने बलिर्बद्धः,' भी है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में कोई भला गुण भी दर्प का प्रतीक और विनाशकारी हो उठता है, यह प्राकृतिक नियम है। बलि का अत्यधिक दान इसलिए

विनाशकारी सिद्ध हुआ कि वह लोकहित की सच्ची भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि दम्भ की भावना से किया गया था, भले ही दम्भ की वह वृत्ति उसके अज्ञात में, उसकी अन्तश्चेतना में निहित रही हो।

धार्मिकता की आड़ में अहंकार

हमारे देश में ऐसे व्यक्ति विशिष्ट संख्या में पाये जाते हैं जो अन्य गुणों के अभाव से अपने भीतर अत्यधिक 'धार्मिकता' की प्रवृत्ति का विकास कर लेते हैं। गंगा-स्नान, तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, जप-तप और कीर्तन-भजन में अपने जीवन का अधिकांश समय बिताकर, और दूसरों को घृणित कीट समझकर ऐसे व्यक्ति अपने बड़प्पन और अहम्मन्यता की भावना को सन्तुष्ट कर लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों की धार्मिकता के धोखे में कभी नहीं आना चाहिए; मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनेवाले विचक्षणों से यह बात छिपी नहीं रहती कि ऐसे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक हीनता को पूरा करने के उद्देश्य से इस विकृत सक्रिय उपाय को काम में लाते हैं।

अपनी कुलीनता का गर्व करनेवाले व्यक्ति अपनी वंश-मर्यादा की झूठी भावना को बढ़ाकर अपने स्वाभाविक निकम्मेपन और हीनता को दूर करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मानसिक रोग-ग्रस्त समझकर उनके साथ सहानुभूति का बर्ताव करना चाहिए, और उनके भीतर लोक-कल्याण की भावना भरने का उद्योग करना चाहिए।

उद्दण्डता भी अहम्मन्यता का एक रूप है। उद्दण्ड व्यक्ति अपने असंयत स्वभाव-द्वारा अपनी अहमहमिका का स्पष्ट परिचय देता है। ज़िद्दी और हठीली प्रकृति के व्यक्ति भी बड़े घमण्डी होते हैं। अपनी टेढ़ को पकड़े रहने में ही वे अपना 'बड़प्पन'

समझते हैं। एक लड़की कुछ विशेष प्रकार के फलों को पसन्द करती थी। एक दिन उसकी मा एक सेट में कुछ फल रखकर उसके पास ले गई और बोली—"चूँकि तुम इन फलों को पसन्द करती हो, इसलिए मैं लाई हूँ।" लड़की ने सेट को उठाकर नीचे पटक-कर चकनाचूर कर दिया और कहा—"चूँकि इन्हें तुम अपनी इच्छा से लाई हो, मेरे कहने से नहीं, इसलिए मैं इन्हें नहीं खाऊँगी।" दूसरी बार जब उसकी मा ने पूछा—"तुम्हारे लिए चाय लाऊँ या दूध ?" तो उस उद्दण्ड लड़की ने उत्तर दिया—"यदि तुम चाय पीने के लिए कहोगी, तो मैं दूध पीऊँगी; और जब तुम दूध पीने के लिए कहोगी तब मैं चाय पीऊँगी।"

इस लड़की ने स्पष्ट शब्दों में अपने मन के विचार प्रकट कर दिये, पर बहुत-से बच्चे और सयाने ऐसे होते हैं, जो करते तो ऐसा ही हैं, यद्यपि मुँह से स्पष्ट ऐसा नहीं कहते, यह औंधी खोपड़ी अहंभाव के मानसिक रोग की चरम सीमा का परिचय देती है। पाठकों का परिचय कुछ ऐसे महानुभावों से अवश्य ही होगा जो केवल दूसरों की बात काटने के उद्देश्य से बहस करते हैं। ऐसे व्यक्तियों से यदि आप कहें कि 'ईश्वर है' तो वे अवश्य जोश के साथ यह सिद्ध करना चाहेंगे कि ईश्वर नहीं है, और यदि आप स्वयं यह घोषित करें कि 'ईश्वर नहीं है' तो वे पूरी शक्ति से यह प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे कि ईश्वर है। यह मनोवृत्ति भी औंधी खोपड़ी के अहंकार का चिह्न है।

कुछ व्यक्ति इस हद तक घमण्डी होते हैं कि वे सदा दूसरों के प्रस्ताव के विपरीत प्रस्ताव करेंगे, यद्यपि वे मन-ही-मन जानते हैं कि उस प्रस्ताव के अनुसार चलने में उनका लौकिक तथा आध्या-त्मिक हित है।

अहंकारी व्यक्ति के अभिमान और दंभ को उनके कुटुम्ब

के लोग स्नेहवश अथवा पारिवारिक शान्ति की रक्षा के खयाल से सहन कर लेते हैं या पाल लेते हैं; पर जब ऐसा व्यक्ति पारिवारिक सीमा के बाहर पाँव रखता है, और देखता है कि वह संसार में अपनी अहम्मन्यता को प्रदर्शित करने के लिए व्याकुल है, और संसार उसके अभिमान को पालने या सहन करने के लिए तैयार नहीं है, तो वह निराश होकर अन्त में अपने को जीवन भर अपने संकीर्ण कौटुम्बिक वातावरण के भीतर आबद्ध रखने के लिए बाध्य होता है। ऐसा व्यक्ति परिवार के लिए एक भयंकर भार-स्वरूप हो जाता है।

अपने को ईश्वर समझने की प्रवृत्ति

अहम्मन्यता का भाव धीरे-धीरे इस हद तक बढ़ जाता है कि मानवता की सीमा को लाँघ जाता है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब मनुष्य अपने को स्वयं ईश्वर या ईश्वर का छोटा भाई समझने लगता है। ईश्वर की बिरादरी में सम्मिलित होने का यह मानसिक रोग बहुत-से धर्मगुरुओं में पाया जाता है। बहुत-से लेखक, कवि और धार्मिक नेता अपने परिणत जीवन में 'प्राफ़ेट' पैग़म्बर या नबी बनने के लिए बहुत उतावले हो उठते हैं। कुछ लोगों की यह मनोवृत्ति स्पष्ट झलकने लगती है, कुछ प्रत्यक्ष रूप से उसे छिपाकर परोक्ष रूप में नाना रूपकों-द्वारा उसे प्रकट करते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि बड़े-बड़े समझदार व्यक्तियों में यह हास्यास्पद भावना पाई जाती है। अकबर सब विषयों में बड़ा बुद्धिमान् और उदार होने पर भी परिणत जीवन में अपने को स्पष्ट ही 'ईश्वर' घोषित करने लगा था— 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' यह लोकोक्ति उसके समय में बहु-प्रचलित हो गई थी। हमारे यहाँ की 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' (चिदानन्द-रूप शिव मैं ही हूँ, मैं ही हूँ!) यह 'वैदान्तिक'

उक्ति भी अहम्मन्यता के इसी चरम भाव का रूपान्तर है। निष्काम मनोवृत्ति से ब्रह्मोपासना करने की बात बिलकुल दूसरी है, पर "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह सोचने की मनोवृत्ति जिन रहस्य-वादियों में पाई जाती है वे केवल अपने दम्भ का पूर्ण विस्फोट करते हैं। आधुनिक योरप के प्रेतात्मवादियों में इसी से मिलने-जुलनेवाले मनोभाव का आभास पाया जाता है, भूत-प्रेतों से सम्बन्ध स्थापित करके वे अपनी 'अलौकिक' शक्ति का परिचय हम साधारण लौकिक मनुष्यों को देना चाहते हैं। रूस के विख्यात क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ बाकुनिन ने अपने एक सगे-सम्बन्धी से यह बात स्वीकार की थी कि उसके जीवन की सबसे बड़ी आकांक्षा ईश्वर के समकक्ष शक्ति प्राप्त करने की है।

वास्तविक शक्ति—धीर, उदात्त आत्मबल—प्राप्त करना बहुत कठिन है। पर शक्तिशाली बनने का ढोंग रचना सरल है। यही कारण है कि ऐसे बहुत-से व्यक्ति हमें जीवन में मिलते रहते हैं जो अपनी झूठी शक्तिमत्ता की धमकी से लोगों को सन्त्रस्त करते रहते हैं। स्कूली जीवन में पाठकों ने ऐसे बहुत-से लड़कों का परिचय प्राप्त किया होगा जो दूसरे लड़कों को डरा-धमकाकर अपना कार्य सिद्ध करते रहते हैं। ऐसे ही लड़के बाद में समाज की 'नैतिक रक्षा' के ठेकेदार बनकर दूसरों के राई-परिमाण दोष को पर्वत-तुल्य बनाकर, अपना 'नेतृत्व' क़ायम रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों की अन्तरात्मा जानती है कि उनके भीतर खोखलापन है, इसलिए उस खोखलेपन को छिपाने के लिए वे बाहर से शक्ति का दुगना आडम्बर रचते हैं। ऐसे व्यक्ति पञ्चों की इच्छा के बिना ही सरपञ्च बन जाते हैं, बिना पूछे सलाह देते हैं, और सब विषय में अकारण ही दाल-भात में मूसरचन्द बनने की चेष्टा करते रहते हैं। इस प्रकार के हास्यास्पद उपायों से वे अपने को समाज में सर्वश्रेष्ठ और सर्व-

शक्तिमान् सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पर इस प्रकार के प्रयत्न स्वभावतः निष्फल जाते हैं, जिससे वे अधिक खीझ उठते हैं, और खीझ के कारण पहले से भी ग़लत रास्ता पकड़ते हैं। वे जीवन भर अशान्ति के चक्करों में धक्के खाते रहते हैं। जो व्यक्ति समाज से अलग रहकर समाज को शासित करने की इच्छा रखता है वह सदा धोखा खायेगा और पछतायेगा। जो मनुष्य वास्तविक सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे चाहिए कि समाज के साथ साथ सहयोग और सामञ्जस्य का सम्बन्ध स्थापित करे। समाज के सब सदस्यों की समकक्षता में रहकर समाज की उन्नति की चेष्टा करे, बाहर से नहीं।

जो व्यक्ति बात-बात में अपनी शक्तिमत्ता और बड़प्पन का प्रचार करता है उसके बारे में समझ लेना चाहिए कि उसके ढोल के भीतर पोल है। वास्तविक शक्ति रखनेवाला व्यक्ति अपने सम्बन्ध में कुछ कहता नहीं; वह आत्मविश्वासपूर्वक चुप रहता है, उसकी योग्यता अपने आप उसके कर्मोंद्वारा प्रकट होती रहती है।

ईर्ष्या, विद्वेष, लोभ, क्रोध आदि मनोविकार सब अहंकार से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए इन सबको दूर करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम अहंकार की भावना के मूल में कुठाराघात करना होगा।

क्षतिपूर्ति के समुन्नत रूप (१)

व्यक्ति और समाज

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से विच्छिन्न होकर वह कभी अपने को सुरक्षित अवस्था में अनुभव नहीं कर सकता; कभी शान्ति नहीं पा सकता, कभी सुखी नहीं हो सकता। जो जीव जन्म के समय से लेकर युवावस्था तक (अर्थात् यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त करके नौकरी का ठिकाना लगाने तक) अपने मा-बाप अथवा कुटुम्ब के दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर करने को बाध्य होता है, उनकी सहायता के विना एक पग भी आगे बढ़ने में असमर्थ रहता है, वह स्वभावतः समाज के बन्धन को स्वीकार करने के लिए अनिवार्य रूप से बाध्य है। इसलिए जीवन में केवल वे ही व्यक्ति सुखी हो सकते हैं; जो समाज के साथ सहयोग तथा सामञ्जस्य का सम्बन्ध स्थापित करके लोकहित में रत रहते हैं; जो स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की ओर अधिक ध्यान देते हैं; जो यह नहीं सोचते कि जीवन में उन्हें किससे क्या लेना है, बल्कि यह सोचते हैं कि वे किसे क्या दे सकते हैं; जो अपने व्यक्तिगत 'बड़प्पन' की अपेक्षा समाज के सभी व्यक्तियों की सामूहिक उन्नति को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, और इस लक्ष्य को सामने रखकर उसी ओर प्रयास करते रहते हैं।

मनुष्य अपनी स्वभावगत हीनता की क्षति-पूर्ति के उद्देश्य से जिन-जिन विकृत उपायों को काम में लाता है (जिनका उल्लेख पिछले प्रकरणों में किया जा चुका है) वे चूँकि घोर स्वार्थ-जनित होते हैं, इसलिए घोर समाज-विद्रोही होते हैं। समाज के साथ विरोध और वैमनस्य स्थापित करनेवाले उपाय कभी मनुष्य को सुखी नहीं बना सकते, यह ध्रुव निश्चित सत्य है।

अपनी जन्मजात परिस्थिति-जनित कमियों को पूरा करने की प्रवृत्ति मनुष्य की अन्तरात्मा के प्रत्येक अणु-परमाणु में निहित रहती है। इसके लिए किसी भी व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पर आवश्यकता इस बात की है कि क्षति-पूर्ति के लिए मनुष्य ऐसे सुसंस्कृत और समुन्नत उपायों को काम में लावे जो समाज के लिए सामूहिक रूप से लाभकारी सिद्ध हों। क्षति-पूर्ति के विकृत तथा समुन्नत रूपों में यही मूल अन्तर है कि विकृत रूप व्यक्ति की निपट स्वार्थान्धता को प्रकट करते हैं, और समुन्नत रूप उसकी उदार समाज-सहयोगी मनोवृत्ति को।

जिन बच्चों की कुछ विशेष-विशेष इन्द्रियाँ जन्म से ही क्षीण होती हैं, वे उस क्षीणता की पूर्ति दूसरे रूपों में करने के प्रयासी बचपन से ही हो जाते हैं। जो बच्चा यह अनुभव करने लगता है कि उसे अपने दूसरे साथियों की अपेक्षा आँखों से कम सूझता है, वह अपनी सारी भीतरी शक्ति उस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से नियोजित कर देता है। उसके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य यह बन जाता है कि वह दूसरों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता से देखे। उसका परवर्ती जीवन भी बचपन में निश्चित किये इसी लक्ष्य के अनुरूप गठित होता है।

क्षीणदृष्टिवाले व्यक्तियों की विशेषतायें

बहुधा देखा जाता है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार क्षीण-दृष्टि शक्तिवाले व्यक्ति होते हैं। अपनी दूरदृष्टि की कमी को वे किसी साधारण वस्तु की आड़ में छिपी हुई सुन्दरता और सूक्ष्मता के आविष्कार-द्वारा पूरा करते हैं। क्षीणदृष्टिवाला बच्चा किस रूप में अपनी सूक्ष्मदर्शिता का उपयोग करेगा, यह बात इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस वातावरण में पला है। यदि किसी डाक्टर के लड़के की आँखें कमज़ोर हों, तो वह अपने

पिता से होड़ लगाने के लिए एक कीटतत्त्ववेत्ता बनने की प्रवृत्ति का परिचय देगा। अणुवीक्षण यन्त्र-द्वारा अदृश्य कीटाणुओं का पता लगाकर वह इस बात से सन्तोष-लाभ करेगा कि वह ऐसे जीवों को देखने में समर्थ है जिन्हें तीक्ष्ण दृष्टिवाले व्यक्ति भी नहीं देख सकते। इस प्रकार की क्षति-पूर्ति समुन्नत कही जा सकती है, क्योंकि इस उपाय से व्यक्ति अपनी स्वाभाविक कमी को पूरा करने के साथ ही समाज के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है।

क्षीणदृष्टिवाले व्यक्ति और भी दूसरे समुन्नत रूपों-द्वारा अपनी कमी की पूर्ति कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, वे बड़े अच्छे गायक, कवि अथवा दार्शनिक बन सकते हैं। बाह्य जगत की स्थूल दृष्टि शक्ति की क्षीणता को वे अन्तर्जगत् की सूक्ष्म-दर्शिता में परिणत करके समाज का हित-साधन कर सकते हैं। हिन्दी के महाकवि सूरदास अन्धे थे, ग्रीक महाकवि होमर भी जन्मान्ध था, जर्मन कवि गेटे की दृष्टिशक्ति बचपन से ही क्षीण थी। इस सम्बन्ध में और भी बहुत-से श्रेष्ठ कवियों और कलाविदों के नाम लिये जा सकते हैं।

गूँगों और बहरों की क्षतिपूर्ति

उसी प्रकार बहरेपन की क्षति-पूर्ति सुन्दर समुन्नत रूपों में की जा सकती है। संसार का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ बेठोफेन बहरा था। शब्दों को ठीक तरह न सुन सकने की कमी को उसने शब्दों के भीतर छिपी हुई सुन्दरता का आविष्कार करके पूरा किया और अपनी आभ्यन्तरिक श्रवण-शक्ति को विकसित कर लिया। सुप्रसिद्ध ग्रीक-वक्ता और राजनीतिज्ञ डेमोस्थेनीज़ बचपन में गूँगा था। अपनी इस जन्मजात कमी को उसने केवल संसार का सर्वश्रेष्ठ वक्ता बनकर ही नहीं किया, बल्कि अपनी राजनीतिक वक्तृताओं-द्वारा तत्कालीन ग्रीस को कुशासन-चक्र के चंगुल से

छुड़ाकर महान् जन-सेवा भी की। महात्मा मूसा भी बचपन में गूँगा था, और अपनी इस जन्मगत क्षति की पूर्ति उसने एक धार्मिक नेता बनकर की। ये सब क्षतिपूर्ति के समुन्नत रूप हैं।

बचपन में व्यक्ति अपनी पारिवारिक अवस्थाओं का दास रहता है और अपने विकास के मार्ग को समाजोपयोगी आदर्श के अनुसार मोड़ने में असमर्थ रहता है। साथ ही यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि बचपन में ही उसके भावी जीवन का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है। पर बाद में यदि वह चेष्टा करे, तो अपने पिछले जीवन की अनुभूतियों का विश्लेषण करके अपने जीवन के पूर्व-निर्धारित लक्ष्य को समुन्नत रूप दे सकता है। स्मरण रहे कि वह अपने लक्ष्य को बदल नहीं सकता, पर उसको समाजोपयोगी रूप प्रदान कर सकता है।

क्षीण-शरीर बच्चों का लक्ष्य

जिन बच्चों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, उनके जीवन का विकास यदि ग़लत रास्ते पर हो, तो उनका सारा जीवन आत्मघाती रूप धारण कर लेता है और विषमय बन जाता है। उदाहरण के लिए जिन बच्चों की पाचन-शक्ति बचपन में ख़राब रहती है, वे अपनी सारी भीतरी शक्ति अधिक भोजन कर सकने की क्षमता प्राप्त करने में लगा देते हैं। अर्थात् उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य पेटू बनने का होता है। इसी लिए बहुधा यह देखा जाता है कि दुबले-पतले बच्चे बाद में या तो तगड़े पहलवान बनकर निकम्मा जीवन बिताते हैं, या दुबले-पतले रहने पर भी भयंकर भोजन-भट्ट बन बैठते हैं। इस प्रकार की क्षतिपूर्ति घोर विकृत समझी जानी चाहिए।

इसके विपरीत, क्षीण पाचन-शक्तिवाले बच्चों की क्षतिपूर्ति की क्रिया जब समुचित मार्ग पर चलती है, तो वे बाद में या तो

डाक्टर बनकर अपने ही समान अस्वस्थ व्यक्तियों की सेवा में अपना जीवन बिता देते हैं, या कृषितत्त्व-विशारद बनकर अच्छी कृषि के नये-नये उपायों का आविष्कार करके जनता का हित करते हैं।

प्रतिभा और पागलपन

संसार में जितने भी प्रतिभाशाली व्यक्ति हुए हैं, उनके जीवन के इतिहास का अध्ययन करने से इस बात का पता लग जायगा कि उनके शरीर के किसी-न-किसी भाग में निश्चय ही कोई जन्मजात कमी रही है, जिसकी क्षतिपूर्ति उग्र किन्तु समुन्नत रूप में करके उन्होंने समाज तथा संसार का विशेष कल्याण किया है। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रतिभा को पागलपन का ही दूसरा रूप बताते हैं। असल बात यह है कि जिन जन्मजात कमियों को पूरा करने की चेष्टा में एक व्यक्ति बाद में पागल हो उठता है, उन्हीं कमियों की पूर्ति के प्रयास से दूसरा व्यक्ति प्रतिभाशाली बन जाता है। अन्तर केवल यह है कि एक व्यक्ति क्षतिपूर्ति के विकृत उपायों को काम में लाता है, दूसरे समुन्नत उपायों को।

जिन बच्चों के माता-पिता चञ्चल-चित्त, भावुक और अनुभूतिशील होते हैं, उनके उस चाञ्चल्य का प्रभाव उनके बच्चों पर भी उनके शैशव के विकासकाल में पड़ता है। स्वभावतः उनके सभी बच्चे भाव-प्रवण हो उठते हैं। अब यह भावुकता किस बच्चे के जीवन को किस रूप में गठित करने में सहायक या बाधक सिद्ध होगी, यह इस बात पर निर्भर है कि कौन बच्चा बाद में क्षतिपूर्ति के किस उपाय का अवलंबन ग्रहण करता है। एक परिवार में माता और पिता दोनों स्वभावतः बड़े भावुक थे। उनके पाँचों बच्चों पर उनकी इस भावुकता का प्रभाव पड़ा। पर प्रत्येक बच्चे ने अपनी व्यक्तिगत कमी की पूर्ति अपने निजी

ढंग से की। फल यह हुआ कि एक बच्चा बाद में कलाकार बन गया, दूसरा पागल हो गया, तीसरा एक क्षीण-प्राण छायावादी कवि बना, जिसने बाद में आत्महत्या कर ली, चौथा शराबी बनकर झूठी शक्ति प्राप्त करके अपनी हीनता को छिपाने की चेष्टा करने लगा और पाँचवाँ एक बहुत बड़ा धार्मिक नेता बन गया। भावुकता सबमें समान रूप से वर्तमान रही। पर उसी भावुकता के विकृत विकास ने एक भाई को पागल बना दिया और दूसरे को प्रतिभाशाली।

अधिकांश मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति बहुधा अत्यन्त भावुक और तीव्र मेधा-शक्ति-सम्पन्न होते हैं। यदि वे अपनी उस भावुकता और तीक्ष्ण बुद्धि को सामाजिक हित-साधन के काम में लगावें, तो उनकी आत्मा निश्चय ही शान्ति प्राप्त करके सुखी हो सकती है, पर वे उसे अपनी स्वार्थगत चिन्ताओं में नियोजित करके अपने व्यक्तिगत बड़प्पन के उद्देश्य से प्रेरित करते हैं, जिसका फल स्वभावतः यह होता है कि समाज और संसार से उनकी शत्रुता हो जाती है, और वे धीरे-धीरे मानव-विद्वेषी बनकर अपने भीतर की विकृत हवाई कल्पना के लोक में विचरण करते रहते हैं।

भावुकता के दुर्गुण

जो व्यक्ति बहुत अधिक भावुक होता है वह संसार के छोटे-मोटे कष्टों से बहुत अधिक पीड़ित हो उठता है। एक साधारण-से काँटे चुभने की वेदना दिन-भर के लिए उसका जी ख़राब करने को यथेष्ट होती है। इसलिए स्वभावतः वह बड़ा दुर्बलचित्त बन जाता है। पर जहाँ एक ओर प्रकृति ने भावुक प्राणी को यह अभिशाप दिया है, वहाँ दूसरी ओर एक बहुत बड़ा वरदान भी साथ में दिया है। वह वरदान यह है कि प्रकृतिगत सौन्दर्य और

सुकुमारता का रस ग्रहण करने की जो समर्थता एक भावुक व्यक्ति में पाई जाती है वह दूसरे व्यक्तियों में नहीं मिलती। अब यह बात भावुक व्यक्ति के शैशव-कालीन वातावरण, उसके माता-पिता-द्वारा उसके पाले पोसे जाने के ढंग और उसकी निजी विवेचना पर निर्भर करती है कि वह अपने स्वभावगत अभिशाप को अधिक अपनाता है या अपने पूर्वोक्त वरदान को स्वीकार करके उसे सुन्दर लोकहितकारी रूप देता है।

हमारे वर्तमान समाज में बहुत-से चञ्चल-चित्त, तरुण-हृदय भावुक, कवि बनकर अपने भीतर के फफोले फोड़ने लगते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि चूँकि वे कवि बन गये हैं, इसलिए उन्होंने अपनी स्वाभाविक अपूर्णता की पूर्ति उन्नत रूप में की है। केवल कवि बन जाना ही जीवन की सफलता के लिए पर्याप्त नहीं है। आजकल के अधिकांश छायावादी कवियों की कविताओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे केवल अपने जले दिलों के फफोले फोड़ने, बच्चों के-से क्रन्दन के स्वर में अपने भीतर के विकृत अरमानों को बाहर निकालने के उद्देश्य से कविता करते हैं। इस प्रकार वे अपने प्रकृति-प्रदत्त वरदान को भी अभिशाप में परिणत कर देते हैं। यदि वे अपनी वेदना-ग्राहिणी प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के दुःखों का अनुभव प्राप्त करके, अपनी सौन्दर्य-बोधिनी प्रवृत्ति द्वारा जीवन की मार्मिकता का कल्याण-कारी सत्य रूप समाज के आगे रखने का प्रयास करते, तो उनकी क्षतिपूर्ति वास्तव में समुन्नत-रूपिणी बन जाती।

क्षतिपूर्ति के समुन्नत रूप (२)

यह बात कई बार दुहराई जा चुकी है कि बच्चे का कोई भी अंग क्षीण होने से उसकी स्वाभाविक आत्मग्लानि बहुत अधिक बढ़ जाती है, और उसी विकल अंग की क्षतिपूर्ति उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य बन जाती है। यदि समुचित वातावरण में बच्चे का पालन-पोषण हुआ, तो उसकी वह क्षतिपूर्ति उन्नत रूप धारण कर लेती है, अन्यथा उसका सारा जीवन विकृत मनोविकारों से ग्रस्त रहता है। इसलिए माता-पिता को इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए कि विकलांग शिशु अपनी स्वाभाविक हीनता की भावना से अधिक पीड़ित न होने पावे, और अपने विकास का समुन्नत मार्ग ग्रहण करे। इस सम्बन्ध में माता-पिता की सावधानता का यह सुफल होगा कि विकलाङ्ग बच्चा भविष्य में नामी गुण्डा बनने के बजाय प्रस्तुत प्रतिभाशाली बन सकेगा।

बाँयें हाथ से काम लेनेवाले व्यक्ति

जिन बच्चों को दाहिने हाथ के बदले बाँये हाथ से काम लेने की आदत पड़ जाती है, वे बाद में जब देखते हैं कि उनके अधिकांश साथी दाहिने हाथ से लिखते हैं और दाहिने हाथ से खाते-पीते हैं, तो वे अपने को एक विचित्र परिस्थिति में पाते हैं। दूसरे लड़के जब उनकी हँसी उड़ाने लगते हैं, तो उन्हें मन-ही-मन अपनी हीनता स्वीकार करनी पड़ती है, और इस भावना से वे सब समय बेचैन रहते हैं। फल स्वभावतः यह होता है कि वे अपनी इस स्वाभाविक कमी की पूर्ति किसी-न किसी रूप में करना चाहते हैं। यदि उन्हें समवेदना प्राप्त न हुई, और निरुत्साह ही निरुत्साह मिला, तो वे अपनी क्षतिपूर्ति विकृत रूप से करते

हुए एक नम्बर के गिरहकट, जालसाज़, चोर या डाकू बन जाते हैं। और, यदि सहानुभूति के वातावरण में विकास प्राप्त करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ, तो वे मशीन-सम्बन्धी सब कामों में बड़ी दक्षता प्राप्त कर लेते हैं, हारमोनियम, सितार, वायलिन आदि बाजों को बजाने की कला में सिद्धहस्त हो उठते हैं, जादूगरी के कौशलों में कमाल दिखाते हैं, और सुविधा मिलने पर नई-नई मशीनों के आविष्कारक भी बन जाते हैं।

कानों से कम सुननेवाला व्यक्ति बड़ा शक्की और वहमी हो जाता है, यह बात सभी जानते हैं। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसा व्यक्ति यदि चेष्टा करे तो वह अपने आभ्यन्तरिक श्रवण-शक्ति को बहुत विकसित कर सकता है। अर्थात् वह विश्व-प्रकृति के भीतर निहित 'नीरव गान' का मर्म ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है। वह बहुत उच्च कोटि का चित्रकार, शिल्पकार कवि, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक बन सकता है। ऐसी दशाओं में बाहरी शब्दों को न सुन पाना उसके लिए हानिकर होने के बदले लाभकारी बन जाता है। कारण यह है कि सच्ची कला की उपासना भीतर से होती है, और बाहर के शब्द उसमें केवल विघ्न डालते हैं।

ठिंगने क़दवाले व्यक्तियों की मानसिकता

क्षीणदृष्टिवाले व्यक्ति केवल अच्छे संगीतज्ञ और कवि ही नहीं होते, बल्कि उनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त असाधारण रूप से उन्नति कर सकती है। बहुत-से जन्मान्ध महाभारत के अठारहों पर्वों के श्लोकों को कण्ठस्थ किये रहते हैं, इस बात के कई प्रमाण मिल चुके हैं। ठिगनाक़द होने से भी बहुत-से व्यक्तियों के मन में अपनी हीनता की अनुभूति बढ़ जाती है। एक ठिगना योरोपियन इस अनुभूति से बहुत अधिक पीड़ित रहा करता था।

इसी लिए उसने हवाई जहाज़ की उड़ान में दिलचस्पी लेकर अपनी इस हीनता की क्षतिपूर्ति की। हवाई जहाज़ में चढ़कर उस उच्चासन से जब वह पृथ्वी पर चलनेवाले मनुष्यों को देखा करता था, तब उसके मन की अपनी उच्च स्थिति की भावना से विशेष सन्तोष प्राप्त होता था। पर केवल इतने से ही वह सन्तुष्ट न रहा। हवाई जहाज़-सम्बन्धी विषयों में उसकी दिलचस्पी इस हद तक बढ़ी कि उसने एक बहुत छोटे आकार की किन्तु बहुत तेज़ उड़नेवाली हवाई मशीन का आविष्कार किया। वह मशीन इतनी छोटी थी कि उसके भीतर कोई लम्बे क़द का व्यक्ति बैठ नहीं सकता था। इस प्रकार लम्बे क़द के व्यक्तियों से उसकी अन्तश्चेतना ने उसके अज्ञात में अपनी कमी का बदला चुकाया, और इसी बदले की भावना ने क्षतिपूर्ति का रूप धारण करके उसे एक आविष्कारक बना दिया, जिससे उसको भी सन्तोष प्राप्त हुआ और समाज का भी उपकार हुआ।

क्षय-रोग और अजीर्ण से ग्रस्त व्यक्ति

ऐसे बहुत-से व्यक्तियों के नाम गिनाये जा सकते हैं, न्होंने अपने किसी अंग की विकलता के कारण उत्पन्न हुई नता की अनुभूति से लाभ उठाकर उसकी क्षतिपूर्ति समुन्न रूप से की, और फल-स्वरूप सारे लोक-समाज का हित धन किया। अन्धों की शिक्षा के लिए ऊपर उठे हुए अक्षरों का आविष्कारक ब्रेइली (Braille) स्वयं अन्धा था। त्रुदो (Trudeau) छुटपन से ही रोगी था और बाद में क्षय-रोग से पीड़ित हो उठा था। अपने शरीर की इस जन्मजात कमी की पूर्ति की भावना सब समय उसके मन में बनी रही। फल यह हुआ कि उसने क्षय-रोग से पीड़ित व्यक्तियों की चिकित्सा के सम्बन्ध में कुछ ऐसे उपायों का आविष्कार किया, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

एक फ्रेञ्च डाक्टर बचपन में दमा, काश और न्यूमोनिया से पीड़ित रहा। उसने फ्रेञ्च स्कूलों में कमरों के बिलकुल बन्द रहने पर भी शुद्ध वायु के सञ्चालन का एक कृत्रिम उपाय खोज निकाला। बाद में वह स्वास्थ्य-मन्त्री बना और उसने क्षयरोग के प्रथम लक्षणों से पीड़ित बच्चों के लिए खुली हवा में स्कूल खोले जाने का आयोजन किया। डाक्टरी के पेशे में उन्हीं लोगों को विशेष रूप से उन्नति करते देखा गया है जो बचपन में या तो स्वयं रोगग्रस्त रहे हैं, या रुग्ण वातावरण में पले हैं। यदि ऐसे बच्चों की क्षतिपूर्ति विकृत रूप से हो, तो वे जीवन-भर रोगी, निकम्मे, निष्प्राण भावुक और पर-सुख-विद्वेषी बने रहते हैं, और यदि समुन्नत रूप से वे अपनी क्षति की पूर्ति करें, तो वे लोकोपकारी चिकित्सक बन जाते हैं।

जो बच्चे बचपन में अजीर्ण रोग से पीड़ित रहते हैं उनकी क्षतिपूर्ति जब विकृत रूप से होती है तो वे पेटू बनकर रह जाते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। उनमें से बहुतों का जीवन-[illegible] मोटे-तगड़े पहलवान बनने का रहता है। पर उनमें से कुछ [illegible] ऐसे भी होते हैं जो शारीरिक मोटेपन द्वारा अपनी क्षति-पूर्ति [illegible]रके आर्थिक मोटाई को अपना लक्ष्य बना लेते हैं। संसार में जितने भी बड़े-बड़े बैंकर या पूँजीपति हैं वे सब बचपन से ही अजीर्ण से ग्रस्त रहे हैं। फोर्ड, राकफेलर आदि महारथियों के उदाहरण हमारे सामने हैं। पर खोज करने से प्रायः सभी छोटे-मोटे पूँजीपतियों के शैशव-जीवन के इतिहास से हमारा सिद्धान्त और अच्छी तरह से प्रमाणित हो जायगा।

कोष्ठबद्धता की शिकायत जिन बच्चों को रहती है, यदि वे क्षतिपूर्ति का विकृत ढंग पकड़ें, तो बाद में वे बड़े भयंकर कन्जूस बन बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन भर कौड़ी-कौड़ी करके माया जोड़ते रहते हैं, और एक पाई के लिए दूसरे का रक्त

चूसने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति नोटों का संग्रह करने के ऐसे आदी हो जाते हैं कि बाद में यह अभ्यास मानसिक विकार का रूप धारण कर लेता है, फल यह होता है कि वे केवल नोट ही नहीं, बल्कि थियेटर और सिनेमा के टिकट, पुराने डाक-टिकट, संवाद-पत्रों के 'कटिंग' आदि के संग्रह में अपना सारा जीवन बिता देते हैं। यदि क्षतिपूर्ति समुन्नत रूप से चले, तो ऐसे व्यक्ति कला की प्राचीन तथा अर्वाचीन कृतियों के सुन्दर संग्रह में अपना जीवन नियोजित कर देते हैं।

कुटुम्ब का सबसे छोटा बच्चा

कुटुम्ब में जो बच्चा सबसे छोटा होता है, उसे स्वभावतः माता-पिता की निर्धनता के कारण सबसे अधिक असुविधा भोगनी पड़ती है। ऐसा बच्चा अपनी हीनता की क्षतिपूर्ति यदि समुन्नत रूप से करे, तो बाद में वह किसी-न-किसी क्षेत्र में एक सुप्रसिद्ध सुधारक बनकर समाज की सेवा करता है। डा० नार्मन हेयर अपने ग्यारह भाई-बहनों में सबसे छोटा था। उसके पिता की आर्थिक दशा उसके जन्म से पहले ही शोचनीय हो गई थी। इसका फल डा० हेयर को भयंकर रूप से भोगना पड़ा। पर चूँकि उन्होंने अपनी क्षतिपूर्ति का सुन्दर, स्वस्थ ढंग पकड़ा था, इसलिए बाद में उन्होंने जन्म-निरोध-सम्बन्धी आन्दोलन का अगुवा बनकर अपने ही समान परिस्थितियों में उत्पन्न बच्चों को कष्टों से बचाने का व्रत ग्रहण कर लिया। संसार के प्रायः सभी सर्वश्रेष्ठ सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकों को बचपन में निर्धनता के कारण घोर कष्ट भोगना पड़ा है, और उन कष्टों की क्षतिपूर्ति के कारण ही वे सुधारक भी बने हैं। हमारे यहाँ शंकराचार्य, तुलसीदास, कबीरदास, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह उक्ति निश्चित रूप से लागू होती है।

कबीरदास ने बचपन में केवल निर्धनता के ही कारण हीनता का अनुभव नहीं किया, बल्कि अपनी जातिगत हीनता की अनुभूति भी उनके भीतर आत्मग्लानि का बोध जगाये रही। बच्चे बड़े भाव-प्रवण होते हैं। जातिगत हीनता क्या चीज़ है, इस सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान भले ही बालक कबीर को न हुआ हो, पर पास-पड़ोस के बच्चों तथा बूढ़ों के अपने प्रति एक विशेष प्रकार के व्यवहार से अपनी हीनता की अनुभूति निश्चय ही कबीर के मन में छुटपन में ही बद्धमूल हो गई होगी। इस आत्मग्लानि की क्षतिपूर्ति बाद में उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से की और जात-पात-तोड़क मण्डल के प्रधान अग्रणी बनकर उन्होंने हिन्दुओं को अपने भीतर समता की प्रतिष्ठा करके वर्ण-वैषम्य मिटाने का उपदेश दिया, और साम्प्रदायिकता का घोर विरोध करके हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का बीड़ा उठाया। उनके जन्म का इतिहास ही कुछ ऐसा विचित्र रहा कि वे स्वयं न हिन्दू रह गये थे न मुसलमान। हिन्दू-घर में उत्पन्न होकर मुसलमान के घर में पाले गये व्यक्ति का सारा जीवन यदि जातिगत हीनता की अनुभूति से पीड़ित रहा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पर इस हीनता की क्षतिपूर्ति जिस सुन्दर ढंग से कबीर ने की वह भी अनुपम है।

अनाथ और असहाय बच्चों की क्षतिपूर्ति

अनाथ, असहाय, उपेक्षित और भाग्य-विताड़ित बच्चे यदि बाद में क्षतिपूर्ति का समुचित मार्ग पकड़ें, और अपनी असहायावस्था के कारण हारमान न हो जायँ, तो वे समाज के सबसे श्रेष्ठ उन्नायक बन सकते हैं। विशेषकर शिक्षा-प्रसार और ज्ञान-वर्द्धन के क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति विशेष उन्नति कर दिखा सकते हैं। शिक्षा-प्रसार-आन्दोलन का इटालियन चैम्पियन पेस्तालोज़ी बचपन

में एक अनाथ, दीन-हीन और मरभुखा शिशु था। ऐसे शिशु अपनी हीनता की अनुभूति से जितने अधिक पीड़ित रहते हैं, उसी परिमाण में उनके भीतर दूसरों का स्नेह-प्रेम और साहचर्य प्राप्त करने की आकांक्षा भी प्रबल रूप धारण किये रहती है। इस कारण उसकी क्षतिपूर्ति भी या तो अनाथ-सेवा के लिए तीव्र उत्साह या मानव-विद्वेषपूर्ण गहन अवसाद के रूप में व्यक्त होती है। पेस्तालोजी की क्षतिपूर्ति ने प्रथम (अर्थात् उन्नत) रूप धारण किया, और कहा जाता है कि संसार से अशिक्षा का अंधकोप दूर करने में जितना हाथ उसका रहा, उतना और किसी दूसरे का नहीं। उसने केवल शिक्षा-प्रसार ही नहीं किया, बल्कि शिक्षा में सुधार भी किये। जिस उपाय से स्कूली बच्चे केवल शिक्षा ही प्राप्त न करें, बल्कि आपस में एक दूसरे के साथ समवेदना तथा सहयोग-पूर्ण सुचारु सम्बन्ध भी स्थापित किये रहें; उसके नियम भी उसने निर्धारित किये।

अपने बचपन की परिस्थितियों से उत्पन्न हीनता के कारण किसी भी व्यक्ति को हारमान नहीं होना चाहिए। हारमान होकर, समाज और संसार को अपना शत्रु समझकर अपनी हीनता के बोध से जीवन भर भार-ग्रस्त रहने अथवा विकृत उपायों से उस हीनता की क्षतिपूर्ति करके अपने मन को समझाने की चेष्टा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। बचपन की परिस्थितियाँ व्यक्ति के अपने वश की नहीं होतीं; और यह भी सत्य है कि बचपन में भावी जीवन का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है, और व्यक्ति के चरित्र का साँचा तैयार हो जाता है। पर यह बात व्यक्ति के अपने वश की है कि वह बाद में जीवन का अनुभव प्राप्त कर लेने पर उस निर्धारित लक्ष्य को उन्नत रूप प्रदान करे और चरित्र के निश्चित साँचे के भीतर जीवन के कड़ुवे अनुभवों को नहीं, बल्कि सुन्दर और सरस अनुभवों को ढालता चला जाय।

इसका फल यह होगा कि इस उपाय से यद्यपि व्यक्ति के जीवन की शैली का आकार वही रहेगा जो बचपन में तैयार हो चुका है, पर उसका प्रकार बदल जायगा, जिससे उसका जीवन निराशा के बदले आशा के रंग से रँग जायगा। वह समाज को अपना शत्रु न समझकर, अपने को समाज का स्वयंसेवक समझेगा। संसार से सब कुछ लेने की इच्छा न रखकर उसे अपना सब कुछ देने की आकांक्षा उसके मन में जगेगी। इससे उसका जीवन आशंकाओं और दुश्चिन्ताओं से मुक्ति पाकर शान्तिमय और सन्तोषपूर्ण बन जायगा।

बच्चों की मानसिकता

चूँकि मनुष्य के सारे जीवन की विकास-धारा उसके शैशव-कालीन अनुभवों से निर्धारित मार्ग का अनुसरण करती रहती है, इसलिए शिशु-मन पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में हम एक बार विस्तृत रूप से विवेचन करने की आवश्यकता समझते हैं।

बच्चे की आत्मग्लानि

पशु-शिशु तथा पक्षी-शावकों की तुलना में मानव-शिशु की पराधीनता की अवधि बहुत दीर्घ होती है, यह बात पहले ही निर्देशित की जा चुकी है। मानव-शिशु जन्म लेने के कुछ ही समय बाद से अपनी निपट असहायावस्था का अनुभव करने लगता है। वह अपने से बड़ों को इच्छानुसार, स्वाधीनतापूर्वक चलते-फिरते, उठते-बैठते और विभिन्न प्रकार के कठिन कामों को सहज रूप से करते हुए देखता है, और उनकी तुलना में

अपने को एकदम असमर्थ पाता है। इस कारण उसके मन पर आत्मग्लानि की अनुभूति घर कर लेती है, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दूसरों की समकक्षता प्राप्त करने, बल्कि दूसरों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य और शक्ति प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा उसके भीतर जग जाती है। अपने आस पास के सब व्यक्तियों पर अपनी धाक जमाना उसके जीवन का प्रधान उद्देश्य बन जाता है। यहीं उसके चरित्र का निर्माण प्रारम्भ होता है।

दूसरों से अधिक शक्ति प्राप्त करने, और दूसरों पर धाक जमाने के दो प्रधान उपाय उसके शिशु-मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। एक तो सक्रिय चेष्टाओं के समुचित विकास-द्वारा और दूसरे निष्क्रिय प्रतिरोध से अपनी दुर्बलता के विकृत प्रदर्शन-द्वारा। कौन बच्चा भविष्य में क्रियाशील और कर्मठ बनेगा और कौन जीवन भर अपनी असहायावस्था का रोना रोकर समाज को अपने क्रन्दन के बन्धन से जकड़े रहेगा, इसके लक्षण विभिन्न शिशुओं के विशिष्ट हाव भावों-द्वारा स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं।

बच्चे की निजी असमर्थता और आत्मग्लानि की अनुभूति ही उसके जीवन की गति की प्रधान सञ्चालिका है। यही आत्मग्लानि किसी एक बच्चे को समाज के उच्चतम शिखर पर चढ़ा सकती है, और यही उसे निम्नतम गह्वर में ढकेल सकती है। वह किस वातावरण में पलता है, उसके चारों ओर की परिस्थितियाँ कैसी हैं, उसके मा-बाप का व्यवहार उसके प्रति कैसा है, इन बातों पर बच्चे के जीवन का भावी विकास निर्भर करता है। यदि बच्चा ऐसे वातावरण में पला जहाँ उसके प्रति समवेदना का सर्वथा अभाव हो, अर्थात् उसे समय पर दूध न मिलता हो, नींद लगने पर समय से सुलाया न जाता हो, रोने पर तत्काल समझाने-बुझाने और खेलाने को कोई

न आता हो, तो उसके सीमित मन पर संसार के सम्बन्ध में बहुत बुरा प्रभाव पड़ जाता है। उसकी अन्तश्चेतना सारे संसार को अपना शत्रु समझने लगती है। यदि ऐसे बच्चे के मन पर से समय रहते यह प्रतिकूल धारणा हटाई न जाय, तो जीवन-भर वह संसार और समाज को अपना शत्रु समझता रहता है और सदा शंकित और चिन्तित बना रहता है। यदि ऐसा बच्चा शरीर के किसी विशेष अंग की क्षीणता से पीड़ित रहा, तो उसकी यह शंकित मनोवृत्ति और अधिक विकट रूप धारण कर लेती है।

निर्धन परिवारों के बच्चे

निर्धन परिवारों के सबसे बाद में उत्पन्न होनेवाले बच्चे विशेष रूप से अपने वातावरण की कठोरता का अनुभव करते हैं। उनके माता-पिता स्वभावतः उनके प्रति अपेक्षाकृत उपेक्षा का भाव दिखाने लगते हैं। चूँकि ऐसे बच्चे अधिकतर जन्म से ही क्षीण-शरीर होते हैं, इसलिए वे अपने वातावरण की असहानुभूति का अनुभव और अधिक तीव्रता के साथ करते हैं। तिस पर अपने मा-बाप की निराशापूर्ण मनोवृत्ति का भी प्रभाव उनके मन पर पड़ता है। ये सब कारण मिलकर बच्चों को भी घोर निराशावादी बना देते हैं जिसका स्थायी प्रभाव उनके समस्त भावी जीवन पर पड़ जाता है। उनकी अपनी असमर्थता, हीनता और आत्मग्लानि की अनुभूति दिन पर दिन बढ़ती चली जाती है, और वे समाज की माँगों को पूरा करने के लिए अपने को असमर्थ पाते हैं। वे शक्ति प्राप्त करके समाज पर अपना बदला लेने के लिए छटपटाते हैं, पर शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ उनकी आकांक्षा के मार्ग में रोड़े अटकाती रहती हैं।

पर यह समझना भूल है कि ऐसे व्यक्ति समाज पर किसी भी रूप में अपनी धाक नहीं जमा पाते। अपनी असहायावस्था और दीनहीन दशा का रोना रोकर, दूसरों के हृदयों में करुणा जगाकर ऐसे व्यक्ति अपनी दीनता के बन्धन पाश से अपने परिचित समाज को बुरी तरह जकड़े रहते हैं। उनका 'निष्क्रिय प्रतिरोध' बड़ा भयङ्कर होता है। एक ओर वे समाज से एकदम असहयोग किये रहते हैं, और दूसरी ओर उसी असहयोग के अस्त्र-द्वारा समाज को अपनी माँगों की पूर्ति करने के लिए बाध्य करते हैं। पर यह उपाय अन्त में उन्हीं के लिए आत्मघाती सिद्ध होता है।

लाड़-प्यार से पले बच्चे

बहुत अधिक लाड़-प्यार से पाले गये बच्चे के लिए जीवन-यात्रा अत्यन्त संकट-पूर्ण हो जाती है। ऐसा बच्चा दूसरों का स्नेह-प्रेम पाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझ लेता है और जब बाद में जीवन की वास्तविकता से परिचित होने पर उसे यह पता चलता है कि संसार के सभी व्यक्ति उसके माता-पिता की तरह नहीं हैं कि उसके चाहते ही तत्काल उसकी किसी भी इच्छा की पूर्ति कर दें, तो वह बहुत घबरा उठता है। वह नाना प्रकार के छल, बल और कौशल के उपायों का अवलम्बन करके दूसरों को अपने स्नेह-बन्धन में बाँधने की चेष्टा करता रहता है। यदि वह आलसी और निकम्मा बना रहता है, तो इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि इस उपाय से वह अपनी नितान्त असमर्थता प्रकट करके अपने सगे-सम्बन्धियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है; और यदि वह आदर्श-स्वरूप बनता है, तो इसका भी यही

कारण समझना चाहिए कि वह दूसरों की प्रशंसा का भाजन बनकर उन पर अपना स्नेहाधिकार जमाना चाहता है।

पर घर से बाहर निकलने पर ऐसे व्यक्ति को पग-पग पर घोर निराशा का सामना करना पड़ता है, और धीरे धीरे वह समाज से अलग रहता चला जाता है। प्रारम्भ में कुछ समय तक बाहरवाले भी उसके छल और कौशलपूर्ण उपायों के वश में होकर उसके प्रति आकर्षित होते हैं, पर बाद में उसकी घोर स्वार्थमयी प्रकृति से परिचित होकर उससे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। फल यह होता है कि उस व्यक्ति के भीतर अपनी हीनता की अनुभूति भयङ्कर रूप से जग पड़ती है और वह पहले जितने ही अधिक उत्साह से समाज के कार्यों में (दूसरों की प्रशंसा पाने के लोभ से) भाग लेता है, बाद में उतने निरुत्साह से वह धीरे-धीरे समाज से अलग होता चला जाता है, और अपने घर की चहारदीवारी में बन्द रहने लगता है।

बचपन में माता-पिता अथवा किसी अभिभावक या अध्यापक के कठोर शासन-चक्र में रहने से भी बच्चे के जीवन के विकास में भयङ्कर हानि पहुँचती है। ऐसे कड़े शासन में पला हुआ बच्चा प्रत्येक वातावरण में केवल कटुता पाने की आशा रखता है। उसके जीवन-केन्द्र के चारों ओर की परिधि भय और शंकाओं से घिर जाती है। जीवन का रूप एक भीषण भौतिक चक्र के रूप में उसकी आँखों के आगे फिरने लगता है।

क्षीण-शरीर तथा विकलांग बच्चे

जिन बच्चों का कोई अङ्ग जन्म से ही क्षीण या विकल होता है, उनकी शिक्षा के सम्बन्ध में अत्यन्त समवेदनापूर्ण सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लेने की आवश्यकता रहती है। ऐसे

बच्चे अपने विकल अङ्गों के सम्बन्ध में अत्यन्त भावुक होते हैं। वे एक तो यों ही स्वयं अपनी हीनता की अनुभूति से अति पीड़ित रहते हैं, तिस पर यदि कोई उनके क्षीण अङ्गों को लक्ष करके उनकी हँसी उड़ाता है, तो वे एकदम सिटपिटा जाते हैं, और हँसी के डर से किसी काम में हाथ डालना ही नहीं चाहते। फल यह होता है कि वे अपने साथियों के साथ खुले मैदान में खेलना पसन्द नहीं करते, और अपने घर के भीतर बन्द रहकर अकेले ही अपने काल्पनिक संगियों के साथ खेलने लगते हैं। बहुत-से ऐसे बच्चों को अपने सोने के कमरे में अकेले में तकियों को अपना साथी बनाकर खेलते देखा गया है। यह प्रवृत्ति बाद में बच्चे को असामाजिक, छायावादी, मिथ्यास्वप्न-दर्शी और निकम्मा बना देती है।

बच्चों के खेलों का महत्त्व

बच्चा किस प्रकार के खेलों में अधिक दिलचस्पी लेता है, इस सम्बन्ध में ध्यान देने से इस बात का पता अच्छी तरह लग सकता है कि भविष्य में जीवन को वह किस प्रकार ग्रहण करेगा, और उसकी चरित्रगत विशेषता किस रूप में प्रकट होगी। वह समाज के साथ सहयोग स्थापित करेगा या असहयोग, उसके साथ सक्रिय साम्य का सम्बन्ध रक्खेगा या निष्क्रिय निरोध की नीति पकड़ेगा, दूसरों पर अपनी शक्तिमत्ता की धाक जमाकर वह नेताग्रणी या डिक्टेटर बनना चाहेगा या किसी नेता की छत्रच्छाया में रहकर एक स्वयंसेवक के रूप में अपनी दास मनोवृत्ति को चरितार्थ करता रहेगा, वह कवि या स्वप्नद्रष्टा बनेगा अथवा इतिहास अन्वेषक; इन सब बातों का स्पष्ट आभास उसके खेल-कूद के ढङ्ग से मिल सकता है। अपने खेलों-द्वारा बच्चे निश्चित रूप से अपने भावी जीवन के लक्ष्य

को निर्धारित करके उसे प्राप्त करने की तैयारी करते हैं। बच्चों के खेलों को कभी उनके समय काटने का साधन नहीं समझना चाहिए, और न उन्हें खेलने से रोकना चाहिए। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उनकी प्रवृत्ति ऐसे खेलों की ओर अधिक बढ़ाने की चेष्टा की जाय, जिनके द्वारा उनके भीतर समाज के साथ सहयोग स्थापित करने की भावना जागरित हो, न कि निष्क्रियता-जनित असहयोग की।

पारिवारिक संस्थिति

किसी व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास या ह्रास के सम्बन्ध में यथार्थ बातें जानने के लिए यह जानना भी बहुत आवश्यक है कि परिवार में उसका कौन स्थान रहा है। जो बच्चा भाई-बहनों में सबसे बड़ा होता है, उसके विकास का क्रम अपनी एक निजी विशेषता रखता है; जो उसके बाद जन्म लेता है उसकी मनोवैज्ञानिक प्रगति बिलकुल भिन्न होती है; जो सबसे छोटा होता है उसकी जीवन-धारा कुछ निराली ही रहती है। इसी प्रकार इकलौते लड़कों और लड़कियों की मनोवृत्तियों के विकास में भी एक विशेष प्रकार का क्रम पाया जाता है।

सबसे छोटे बच्चे की महत्त्वाकांक्षा

इस बात पर बहुत-से पाठकों ने ध्यान दिया होगा कि सभी परिवारों के सबसे छोटे बच्चे दूसरे बच्चों से निश्चित रूप से विचित्र होते हैं। सभी कथा-कहानियों में सबसे छोटे राजकुमारों के प्रति कुछ विशेष प्रकार की सहानुभूति के भाव प्रकट होते हैं। इस सहानुभूति की आवश्यकता इसलिए आ पड़ती है कि

सबसे छोटा बच्चा स्वभावतः अपने दूसरे भाई-बहनों की तुलना में अपने को असमर्थ, और असहाय पाता है। वह देखता है कि बात-बात में उसके परिवार के सभी सयाने व्यक्ति उसके सम्बन्ध में बड़े करुणापूर्ण स्वर में कहते हैं—"अरे, वह तो अभी एक नादान बच्चा है।" इस प्रकार की करुणा और समवेदना से उसके मन में अपनी हीनता का बोध अत्यन्त प्रबलता के साथ जाग उठता है, और साथ ही, क्षति-पूर्ति के नियम के अनुसार, उसके मन में उतनी ही प्रबलता से अपने सब भाइयों से आगे बढ़ने की भावना ज़ोर मारने लगती है। वह एकदम सिरे पर पहुँचने का स्वप्न देखने लगता है। ऐसा बच्चा स्कूल की परीक्षा में पहला पास होना चाहता है; यदि सफल छात्रों की 'लिस्ट' में उसका नाम द्वितीय पड़ जाय, तो उसे बहुत भारी असन्तोष होता है। किसी जलूस में भी ऐसा लड़का सबसे आगे बढ़े रहने के लिए सदा उत्सुक दिखाई देगा। दौड़ की बाज़ी में सबको हराकर पहला नम्बर पाने के लिए वह प्राणपण से चेष्टा करेगा। स्वभावतः जीवन की दौड़ में परिवार का सबसे छोटा लड़का अग्रणी बना रहना चाहेगा।

ऐसे बच्चों को यदि अनुकूल वातावरण और समुचित शिक्षा प्राप्त हो, तो वे परिवार और समाज के लिए बड़े उपकारी सिद्ध हो सकते हैं। पर बहुधा होता यह है कि उनमें सबसे आगे बढ़े रहने की प्रवृत्ति जितनी ही प्रबल होती है, उसी अनुपात में उनमें आत्मविश्वास की कमी रहती है, और अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति का अभाव। इसका यह फल होता है कि अपने से बड़े भाई-बहनों से आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रारम्भ में ही दो-एक बार असफलता प्राप्त होने से वे हारमान हो जाते हैं, और फिर किसी भी उद्योग में हाथ डालने का साहस उनमें नहीं रह जाता। धीरे-धीरे वे अत्यन्त संकोच-

शील, दूसरों से मुँह छिपानेवाले और कायर बन जाते हैं। परिवार का सबसे छोटे बच्चे का पाँव भाई-बहनों की पारस्परिक होड़ में जहाँ एक बार उखड़ जाता है, तो फिर सदा के लिए उखड़ा ही रह जाता है। जीवन भर वह परिवार के सब व्यक्तियों से अधिक कायर और निकम्मा बना रहता है। पर यदि अपनी दो-एक प्रारम्भिक चेष्टाओं में वह अपने भाई-बहनों पर विजय प्राप्त कर ले, तो फिर वह बहुत दूर तक बिना किसी रोक-टोक के आगे बढ़ा चला जाता है।

ऐसे बच्चों की शिक्षा किस ढङ्ग से हो, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बहुत-से लोग निश्चय ही इस सम्बन्ध में यह राय देंगे कि उसे सदा सबसे आगे बढ़े रहने के लिए उत्साहित करते रहना चाहिए। पर वास्तव में इस प्रकार का उत्साह-प्रदान बच्चे के भावी जीवन को बहुत हानि पहुँचाता है। सबसे आगे बढ़े रहने की प्रवृत्ति स्पष्ट ही घोर स्वार्थमूलक होती है। इससे दूसरों के प्रति ईर्ष्या का भाव बढ़ता है, और दूसरों को छल, बल या कौशल से नीचे गिराने की प्रवृत्ति उत्तेजना प्राप्त करती है, जो सामाजिक सामञ्जस्य और सहयोग को भारी हानि पहुँचाती है। ऐसे बच्चे यदि जीवन में सबसे आगे बढ़ने में सफलता प्राप्त करते हैं तो दूसरों को धक्का देकर, ठेलकर और पीसकर; और यदि असफल होते हैं, तो एकदम निकम्मे और परले सिरे के कायर बन जाते हैं। इसलिए ये दोनों मार्ग खतरनाक हैं। ऐसे बच्चों को यह शिक्षा देने की आवश्यकता है कि परिवार के सब भाई-बहनों को जीवन में उन्नति करने का समान अधिकार है, और कोई बच्चा चाहे सबसे पहले उत्पन्न हो, चाहे सबसे बाद में, प्रत्येक को अपने-अपने ढङ्ग से, अपने-अपने क्षेत्र में उन्नति करके समान रूप से परिवार (और बाद में समाज) की सामूहिक उन्नति में सहयोग प्रदान करना होगा।

कुटुम्ब का सबसे बड़ा बच्चा

कुटुम्ब के सबसे बड़े बच्चे को आत्मोन्नति की जो सुविधायें प्राप्त होती हैं वे दूसरों को नहीं होतीं। पहला बच्चा होने से उसके माता-पिता उसे अपना प्रधान उत्तराधिकारी समझकर सदा उसे अपने ही अनुरूप बनाने की चेष्टा करते रहते हैं। वे अपने प्रत्येक व्यवहार से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसके मन में यह धारणा जमा देते हैं कि उनके बाद उनके कुल का प्रधान संरक्षक वही होगा, क्योंकि वह सबसे बड़ा है, और दूसरे बच्चों की अपेक्षा उसका महत्त्व अधिक है।

इस प्रकार की भावना से प्रेरित बच्चा बाद में अपने को नीति और व्यवस्था का संरक्षक समझने लगता है। प्रधान उत्तराधिकारी होने के कारण उसे अपनी कौलिक परम्परा का बहुत अधिक ध्यान रहता है, और फलतः वह घोर रूढ़िवादी बन जाता है। वह शक्ति का परम पुजारी होता है, और समाज के पिता का स्थान अधिकृत करने की चेष्टा करता हुआ सबको अपने स्वेच्छाचारी शासन के दबाव से दबाये रखने के लिए उत्सुक रहता है। संसार के इतिहास में जितने भी 'डिक्टेटरों' ने ख्याति प्राप्त की है उनमें से अधिकसंख्यक अपने अपने पिता के प्रथम पुत्र रहे हैं।

द्वितीय पुत्र

द्वितीय पुत्र की स्थिति कुछ दूसरे प्रकार की होती है। उसे जान में या अनजान में यह बात सब समय बहुत बुरी तरह खटकती रहती है कि वह पहला न होकर दूसरा हुआ—क्योंकि केवल एक ही नम्बर से पिछड़ने पर भी पहला न होने से स्वभावतः उसकी पारिवारिक स्थिति में बड़ा भयंकर अन्तर पड़

जाता है। किसी राजा के दूसरे लड़के के असन्तोष की कल्पना सहज में की जा सकती है। केवल इसी कारण से कि वह अपने पिता का प्रथम नहीं, द्वितीय पुत्र है, पिता के सारे राज्य का उत्तराधिकार उससे छिन जाता है। इस कारण उसके अन्तर्मन में भयंकर असन्तोष और विद्रोह की भावना जग उठती है। राजा के लड़के के सम्बन्ध में जो बात लागू है, वह न्यूनाधिक परिमाण में प्रत्येक कुटुम्ब के द्वितीय पुत्र के विषय में ठीक बैठती है। फल यह देखने में आता है कि परवर्ती जीवन में द्वितीय पुत्र केवल पारिवारिक सङ्गठन के प्रति ही विद्रोही नहीं होता, बल्कि किसी भी दीर्घ प्रतिष्ठित सामाजिक अथवा राष्ट्रीय परम्परा का घोर विरोधी हो उठता है।

एकमात्र पुत्र का मानसिक चक्र

अपने पिता के एकमात्र पुत्र का मानसिक विकास माता-पिता के अत्यधिक स्नेह-भार के कारण पग-पग में बाधाओं से घिरा रहता है। धनी माता-पिता अपने इकलौते लड़कों के चारों ओर सुख के साधनों की एक दीवार-सी खड़ी कर देते हैं। बिना कुछ कहे उसकी सब इच्छाओं की पूर्ति होती रहती है। उसके प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिए एक-एक शिक्षक नियुक्त कर दिया जाता है। फल यह होता है कि स्वयं कुछ सोचने-समझने की योग्यता उसमें नहीं रह जाती, वह एक प्रकार से निकम्मा बन जाता है, और दूसरों की सहायता के बिना वह जीवन में एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। चूँकि घर के सब लोग सब समय उसकी प्रत्येक आवश्यकता के प्रति ध्यान दिये रहते हैं, इसलिए स्वभावतः उसके मन में यह धारणा जम जाती है कि उसका अस्तित्व एक विशेष महत्त्व रखता है। इससे उसके भीतर अहंकार का भाव अत्यन्त प्रबल रूप धारण किये रहता है।

एकमात्र पुत्र के माता-पिता केवल उसे सब प्रकार के सुख-साधनों के भार से दबाये ही नहीं रहते, बल्कि उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सब समय आवश्यकता से अधिक चिन्तित रहते हैं। उसे एक साधारण-सी छींक या हिचकी आते देख वे बहुत घबरा उठते हैं, और उसके आगे अपनी आशंकाओं को प्रकट करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह सारे संसार को एक ऐसे अस्वस्थकर कारागार के समान समझने लगता है, जो केवल माता-पिता की संरक्षकता के कारण ही टिकने योग्य बना हुआ है। एक ओर उसे घर के बाहर का सारा वातावरण घोर कठिनाइयों से घिरा हुआ जान पड़ता है, दूसरी ओर उन कठिनाइयों का सामना करने की समर्थता वह अपने भीतर नहीं पाता; क्योंकि माता-पिता का अत्यधिक दुलार उसे एकदम पंगु बना देता है।

लड़कियों की आत्मग्लानि

हमारे समाज में लड़कियों के प्रति जो अवज्ञा प्रकट की जाती है उसके कारण उनमें शैशवावस्था से ही आत्मग्लानि की अनुभूति बहुत गहराई में अपनी जड़ जमा लेती है। छोटी-छोटी लड़कियाँ अस्पष्ट रूप से यह अनुभव करने लग जाती हैं कि उनके निकट-वयसी लड़कों के प्रति घरवाले उनकी अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान देते हैं। वे यह देखती हैं कि उन्हें बात-बात में तिरस्कृत किया जाता है और लड़कों को बात-बात में पुरस्कृत। उनके भीतर भी अज्ञात रूप से यह धारणा ज़ोर पकड़ने लगती है कि लड़के जन्म से ही एक विशेषता लेकर उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण वे उनसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। इस प्रकार जब उनके अन्तर्मन में लड़कों की तुलना में अपनी हीनता का बोध भयंकर रूप धारण कर लेता है, तब स्वभावतः अपनी इस कमी को पूरा करने की इच्छा भी उनके

भीतर अत्यन्त प्रबल हो उठती है। यह क्षतिपूर्ति किस लड़की के जीवन में किस रूप में प्रकट होगी, यह बात प्रत्येक लड़की के विशिष्ट वातावरण पर निर्भर करती है। पर साधारणतया लड़कियों की क्षतिपूर्ति के दो मुख्य रूप हमारे सामने आते हैं।

पुरुष-प्रवृत्ति-सम्पन्न स्त्रियाँ

एक रूप उन लड़कियों में देखने में आता है, जो अपने भाइयों अथवा आस-पास के समवयसी लड़कों से होड़ लगाने के उद्देश्य से अपने भीतर पुरुषत्व की प्रवृत्ति का विकास करने लगती हैं। इस श्रेणी की लड़की बड़ी धृष्ट और साहसी होती है, और उसकी महत्त्वाकांक्षा बड़ी प्रबल होती है। वह साइकिल की सवारी पसन्द करती है, खेल-कूदों में दिलचस्पी लेती है, 'गर्ल-गाइड' बनना चाहती है, स्त्री-स्वाधीनता के आन्दोलन में ज़बर्दस्त भाग लेती है, और पुरुषों के प्रति एक प्रकार के विद्वेष का-सा भाव उसके भीतर प्रायः जीवन-भर बना रहता है। ऐसी लड़की विवाहित होने पर नाना छल, बल और कौशल से अपने पति पर अपना रोब गाँठने की चेष्टा करती रहती है। घर-गृहस्थी के कामों की ओर ऐसी लड़की की प्रवृत्ति तनिक भी नहीं होती। हमारे समाज में वर्तमान युग की 'फ़ैशनेबुल' स्त्रियाँ अधिकांशतः इसी श्रेणी की होती हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि 'फ़ैशन' के प्रचलन के पहले हमारे देश में पुरुषों से होड़ लगानेवाली अथवा उन पर रोब गाँठनेवाली स्त्रियों का नितान्त अभाव रहा है। झाँसी की रानी की श्रेणी की बहुत-सी मर्दानी राजपुतानियों ने समरांगण में पुरुषों की प्रतियोगिता में विजय प्राप्त किया है। उनके मनोवैज्ञानिक विकास के सम्बन्ध में यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि बचपन से ही उनके भीतर अज्ञात रूप से पुरुषों की तुलना में अपनी हीनता की उत्कट अनुभूति

वर्तमान थी। अपनी उस जन्मगत कमी को पूरा करने की भावना स्वभावतः जब उनके भीतर उग्र रूप से जाग पड़ी तो उन्होंने युद्धभूमि में अपने काली-रूप का प्रदर्शन करके अपने नारीत्व का बदला चुकाया।

त्यागमयी स्त्रियों का विद्रोह

क्षतिपूर्ति का दूसरा रूप उन स्त्रियों के जीवन में देखने में आता है, जो त्याग और आत्म-बलिदान का परिचय देती हुई शान्त रूप से घर-गृहस्थी के काम-धंधों में लगी रहती हैं। ऐसी स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से बिना किसी शिकायत के अपने नारी-जीवन की हीनता को चुपचाप स्वीकार कर लेती हैं, और सामाजिक नियमों को बिना विवाद के निभाती चली जाती हैं। पर परोक्ष रूप से उनका विद्रोह प्रकट हो जाता है। वे किसी भी काम को ठीक तरह से पूरा नहीं कर पातीं, रोगों को अपने पास बुलाती रहती हैं, बात-बात में भय और आशंका के चिह्न प्रकट करती रहती हैं, और नाना अस्पष्ट इंगितों से यह जता देती हैं कि वे जीवन से उकता गई हैं और मृत्यु ही उन्हें मुक्ति दिला सकती है। यह परोक्ष विद्रोह प्रथम श्रेणी की नारी के प्रकट विद्रोह से कुछ कम भयंकर नहीं होता।

शृङ्गार-प्रसाधन

एक तीसरे रूप से स्त्रियाँ पुरुषों से अपना बदला लेती हैं। शृंगार-प्रसाधन की ओर विशेष ध्यान देकर, अपने शारीरिक सौन्दर्य को नाना उपायों से बढ़ाकर वे पुरुषों को अपनी सम्मोहकता का दास बनाये रहती हैं। टॉल्सटॉय ने अपनी एक पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक मार्के की बात कही है। उनका कहना है कि जिस प्रकार यहूदियों ने सदियों से अपने ऊपर होनेवाले

अत्याचार का बदला अपने विश्वव्यापी आर्थिक संगठन-द्वारा लिया है, उसी प्रकार युगों से पुरुषों की पराधीनता से पीड़ित नारी-जाति ने अपने सौन्दर्य से आकर्षण-द्वारा पुरुषों को वासना का दास बनाकर बदला लिया है।

जब तक समाज पुरुष और नारी के समान अधिकार को स्वीकार नहीं करता तब तक नारी अपनी जन्मगत हीनता के बोझ से पीड़ित रहेगी, जिसके फलस्वरूप उसकी क्षतिपूर्ति इसी प्रकार के विकृत रूपों में प्रकट होती रहेगी। जिन घरों में लड़कियों का जन्म अभिशापस्वरूप नहीं समझा जाता, जहाँ लड़कों के ही समान उनका आदर होता है, उस घर की लड़कियों के जीवन का विकास बड़े सुन्दर और समुन्नत ढंग से होता है। ऐसी लड़कियाँ बाद में यथार्थ गृहलक्ष्मियों के रूप में अपने-अपने पति के घरों की शोभा बढ़ाती हैं।

भाई-भाई अथवा भाई-बहनों की पारस्परिक प्रतियोगिता की बात मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-द्वारा निश्चित रूप से सत्य सिद्ध हो चुकी है। प्रत्येक परिवार में इस प्रकार की प्रतियोगिता पाई जाती है। पर यह पारिवारिक प्रतिद्वन्द्विता परोक्ष रूप से प्रकट होती है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। प्रत्यक्ष रूप से भाई-बहनों में साधारणतया एक-दूसरे के प्रति सच्चा स्नेह पाया जाता है। जानबूझकर कोई लड़का अथवा लड़की अपने भाई या बहन के प्रति विद्वेष तथा प्रतियोगिता की भावना शायद ही रखता हो। पर मनुष्य का वास्तविक व्यक्तित्व उसके अज्ञात में उसकी अन्तश्चेतना द्वारा परिचालित होता है। उसका भीतरी मन उसके अनजान में बहुत-सी ऐसी बातें सोचता रहता है जिनका स्थायी प्रभाव उसके चरित्र पर पड़ता है, पर जिनके सम्बन्ध में वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी नहीं जानता।

यदि माता-पिता प्रत्येक लड़के अथवा लड़की के साथ समुचित

बर्ताव प्रदर्शित करके उनके मन में यह धारणा बचपन में ही जमा दें कि सब भाई-बहनों के समान अधिकार हैं, तो उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना नष्ट हो जायगी और उनका जीवन समुन्नत रूप से, सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से विकसित होता चला जायगा।

हमारे स्वप्न

स्वप्नों के सम्बन्ध में बहुधा यह धारणा लोगों में पाई जाती है कि वे भविष्य में घटनेवाली घटनाओं की पूर्ण सूचना हमें देते हैं। पर इस प्रकार की धारणा आधुनिक मनोविज्ञान-सम्बन्धी खोजों-द्वारा एकदम भ्रान्त सिद्ध हो गई है। इस युग के मनोवैज्ञानिक अब निश्चित रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं कि सभी स्वप्न हमारे मन की गहराई में छिपी हुई आकांक्षाओं अथवा आशंकाओं को प्रकट करते हैं। बहुधा हमारी इच्छायें और हमारे भय स्वयं हमसे छिपे रहते हैं। हमारे मन की ऊपरी सतह में जो भावनायें प्रतिपल उठती रहती हैं, उनसे हम परिचित रहते हैं, पर उस सतह के नीचे जो भावनायें दबी पड़ी रहती हैं उनसे हम अपरिचित ही रह जाते हैं। मन के भीतर की गहराई में दबी हुई भावनाओं को यदि हम महत्त्वहीन समझें, तो यह बड़ी भारी भूल होगी। सच तो यह है कि हमारे सचेत मन में उठनेवाली भावनाओं की अपेक्षा हमारे अन्तस्तल में दबी हुई भावनायें कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। हमारा सचेत मन उन्हीं दबी हुई भावनाओं-द्वारा परिचालित होता है। केवल हमारा सचेत मन ही नहीं, बल्कि हमारे सारे जीवन का विकास या ह्रास उन्हीं दबी हुई भावनाओं के ऊपर निर्भर करता है।

स्वप्न इच्छा-पूर्ति के रूपक हैं

बहुधा स्वप्न अत्यन्त विकृत रूप में हमारे सामने आते हैं, और अर्थहीन जान पड़ते हैं। पर मनोविज्ञान के पण्डित उस अर्थहीनता में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज निकालते हैं। प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी आशा या आशंका का रूपक होता है। हमारी गुप्त भावना स्वप्न में यथार्थ रूप में अपने को प्रकट न करके गुप्त वेष में, नाना रूपकों के जाल बिछाकर व्यक्त होती है। मनुष्य अपनी स्वभावगत असमर्थता की क्षतिपूर्ति जिन-जिन रूपों में करता है, उसके स्वप्नों की गणना भी उन्हीं में की जा सकती है। क्योंकि स्वप्नों के द्वारा वह अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करता है, जिन्हें वह वास्तविक जगत् में पूरा नहीं कर पाता।

हारा हुआ जुआरी स्वप्न में ख़ूब जीतता है, यह बात प्रमाण-सिद्ध है। भूखा स्वप्न में अच्छे-अच्छे खाने खाता है। वियोगी जन स्वप्न में अपने प्रियतम अथवा प्रियतमाओं से मिलते हैं। जो महत्त्वाकांक्षी कवि या लेखक वास्तविक जीवन में तिरस्कार पाता है, वह स्वप्न में बहुधा नोबल-पुरस्कार पाता है।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः उठेगा कि यदि स्वप्नों में मनुष्य के मन के भीतर छिपी हुई इच्छायें चरितार्थ होती हैं, तो लोग समय-समय पर जो दुःस्वप्न देखते हैं उनके द्वारा कौन-सी आकांक्षायें पूरी होती हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि स्वप्नों में केवल मनुष्य की इच्छाओं की ही पूर्ति नहीं होती, बल्कि उसके भीतर दबी भय की भावनायें भी नाना रूपकों के रूप में व्यक्त होती हैं। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों का यह कहना है कि मनुष्य की आशंकायें भी इसकी इच्छा के ही विकृत रूप हैं। भय के जो रूप व्यक्ति के स्वप्नों में प्रकट होते हैं, उन्हें वह क्षतिपूर्ति के विकृत

नियमों को अपनाने के कारण, अपने अनजान में, अपने मन के भीतर पोषित किये रहता है। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति यह स्वप्न देखता है कि कोई दुष्कर्मी आकर उसके प्राण लेने की चेष्टा में है, तो समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार का व्यक्ति वास्तव में जीवन से उकता गया है, और अपने अनजान में वह मृत्यु की कामना करता है।

एक स्त्री ने एक बार यह स्वप्न देखा कि उसका पति उसे एक बहुत ऊँची अटारी की छत पर ले गया। उस छत की मुँडेर नहीं थी। उसके पति ने उसे एक ऐसे नुक्कड़ पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से नीचे गिरने पर उसके बचने की कोई सम्भावना नहीं थी। उसे चक्कर आने लगा और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। इस स्वप्न से स्पष्ट ही यह अर्थ लगाया जा सकता है कि उक्त स्त्री पति का प्रेम पाकर अपने को बहुत सुखी समझती थी और सातवें स्वर्ग में चढ़ी हुई पाती थी; पर कुछ समय से पति का व्यवहार बदला देखकर उसके मन में यह आशंका उत्पन्न हो गई थी कि कहीं वह (उसका पति) उसे त्याग न दे।

हमारी गुप्त भावनाओं के दर्पण

स्वप्न वास्तव में मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। किसी मनुष्य के भीतर की सच्ची बात जानने की आवश्यकता हो, तो उसके स्वप्नों को जान लेना ही यथेष्ट होगा।

एक दूसरी स्त्री ने एक बार यह स्वप्न देखा कि वह साड़ी के स्थान में एक छोटा-सा फ़्राक पहनकर छोटी-छोटी लड़कियों के साथ खेल रही है। स्वप्न में ही वह अपने व्यवहार को देखकर लज्जित भी हो रही थी, और यह आशंका भी उसके मन में बनी हुई थी कि कहीं उसका पति उसे इस वेष में देख ले, तो उस पर बड़ी फटकार पड़ेगी। इस स्वप्न से स्पष्ट ही यह अनुमान लगाया

जा सकता है कि उक्त स्त्री किसी कारण से अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट है, और वह अपने बचपन के जीवन को फिर से प्राप्त करने की इच्छा रखती है। उक्त स्त्री वास्तव में अपनी ससुराल के लोगों के शासन-चक्र से बहुत पीड़ित थी और परदा-प्रथा के कठोर नियमों का पालन करते करते मन-ही-मन उकता गई थी, यद्यपि बाहर से वह सामाजिकता को निभाने के लिए बहुत उत्सुक थी। उसकी इन दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का निदर्शन पूर्वोक्त स्वप्न में अत्यन्त स्पष्ट रूप से हुआ है।

हमारे दो व्यक्तित्व

मनुष्य के भीतर कम से कम दो व्यक्तित्व सदा, सब समय वर्तमान रहते हैं। उसका एक व्यक्तित्व उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रेरित करता है, और दूसरा व्यक्तित्व समाज के कड़े नियमों के पालन के लिए उत्कण्ठित रहता है। पहला व्यक्तित्व उसके अन्तर्मन में सोई हुई अवस्था में दबा पड़ा रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व (समाज के शासन-चक्र को मानकर चलनेवाला व्यक्तित्व) सब समय जागता रहता है, यहाँ तक कि हमारी निद्रावस्था में वह पुलिस के चौकीदार की तरह चौकन्ना रहता है। जब हम स्वप्न देखते हैं तब हमारे दोनों व्यक्तित्व सचेष्ट रहते हैं। दोनों व्यक्तित्व एक-दूसरे पर कड़ी निगाह रखते हैं। पुलिस का काम करनेवाला व्यक्तित्व स्वाभाविक इच्छाओं की ओर झुकनेवाले व्यक्तित्व को धर पकड़ने के लिए तैयार रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व उस पुलिस प्रहरी को धोखा देकर अपनी सहज इच्छाओं का वेष बदलकर उन्हें चरितार्थ कर लेता है। यही कारण है कि हमारे स्वप्न बहुधा हमें अर्थहीन और विचित्र जान पड़ते हैं। वे वास्तव में अर्थहीन नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर वर्तमान पुलिस-प्रहरी को धोखा

देने के लिए निराले रूपक-मय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे मूल व्यक्तित्व की आकांक्षायें पूरी होती हैं।

पर हमारा दूसरा व्यक्तित्व (पुलिस-कर्मचारी) भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, और उसकी भी अपनी निजी इच्छायें होती हैं, जिनमें समाज के कड़े नैतिक नियमों को मानकर चलने की इच्छा प्रधान है। इसलिए बहुधा स्वप्नों में हमारे दोनों व्यक्तित्वों की इच्छा की पूर्ति एक साथ होती है। फ्राक पहनकर छोटी लड़कियों के साथ खेलने का स्वप्न देखनेवाली स्त्री के मन में स्वप्न में भी यह भय बना रहा कि यदि उसके पति महोदय उसे इस अवस्था में देखेंगे, तो उसे डाटेंगे। इस चिन्ता से वास्तव में उसके दूसरे व्यक्तित्व (पुलिस-कर्मचारी) की इच्छा पूरी हुई। इसी कारण हमने मनुष्य की स्वप्नगत आशंका को भी एक प्रकार की इच्छा बताया है, यद्यपि यह विकृत और नकारात्मक इच्छा है।

आशंकाओं की चरितार्थ की बात एक दूसरे स्वप्न के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगी। विश्व-विख्यात मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अपने एक स्वप्न-सम्बन्धी लेख में इस दृष्टान्त को उद्धृत किया है कि एक व्यक्ति ने एक दिन यह स्वप्न देखा कि वह रेलगाड़ी में यात्रा कर रहा है। अकस्मात् गाड़ी एक निर्जन स्थान में खड़ी हो जाती है। वह व्यक्ति इस आशंका से घबरा उठता है कि रेल-दुर्घटना होने जा रही है। वह अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से गाड़ी की भीड़ से बाहर निकलने की चेष्टा करता हुआ अपने रास्ते में रुकावट डालनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की हत्या करता चला जाता है।

स्वप्नद्रष्टा की तत्कालीन मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने पर इस बात का पता चला कि कुछ समय पहले उसने एक पागल के सम्बन्ध में एक सच्ची घटना का विवरण अपने एक मित्र से

सुना था। उस पागल को रेल के एक डिब्बे में क़ैद करके एक पागलखाने में भेजा जा रहा था। संयोगवश एक यात्री उसी डिब्बे में घुसकर उसके साथ बैठ गया। पागल ने उस यात्री को जान से मार दिया। इस घटना का गहरा प्रभाव स्वप्नद्रष्टा पर पड़ गया। प्रभाव पड़ने का एक विशेष कारण था, वह यह कि कुछ समय पहले उसने एक लड़की से विवाह करने का संकल्प अपने मन में कर लिया था, पर बाद में उस लड़की के चरित्र पर उसके मन में सन्देह हो गया। फल यह हुआ कि जिन-जिन व्यक्तियों के साथ उस लड़की की घनिष्ठता थी उन सबके प्रति उसके मन में भयंकर ईर्ष्या जग उठी। उस ईर्ष्या के प्रबल प्रकोप से उसके मन में यह सन्देह होने लगा कि कहीं वह पागल न हो जाय, और पागल होने पर कहीं कोई भयंकर काण्ड न कर बैठे। इस बात को ध्यान में रखने से उस व्यक्ति के स्वप्न का भाव स्पष्ट हो जाता है। रेल में एक यात्री की हत्या करनेवाले पागल की स्मृति उसके मन में जग उठी और उसके तत्कालीन मनोभाव के साथ मिलकर एकाकार हो गई। उसने अपने को उस पागल के स्थान में समझ लिया। रेल के डिब्बे में अपने रास्ते में रुकावट डालनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को मार डालने का आशय यह था कि उसकी प्रेमिका से घनिष्ठता स्थापित करके उसके विवाह में बाधा डालनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की हत्या करने की जो भावना उसके अन्तर्मन में छिपी हुई थी वह स्वप्नावस्था में अवसर पाकर जाग पड़ी। वास्तव में हत्या की यह प्रवृत्ति उसकी अन्तश्चेतना में दबी पड़ी थी; उसका सचेत मन कभी इस तरह की पागलपन की बात नहीं सोच सकता था। पर स्वप्न मनुष्य के अन्तर्मन का भेद खोल देता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति ने स्पष्ट रूप से यह स्वप्न नहीं देखा कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों की

हत्या कर रहा है, बल्कि रेल-दुर्घटना की आशंका का रूपक रच-कर उसके अन्तर्मन ने अपने भीतर दबी पड़ी हुई इच्छा को च रतार्थ किया।

हमारे जीवन पर स्वप्नों का प्रभाव

जिस प्रकार हमारे जाग्रत् जीवन की आशाओं और आशं-काओं से हमारे स्वप्नों का निर्माण होता है, उसी प्रकार बहुधा हमारे स्वप्नों का प्रभाव हमारे जाग्रत् जीवन पर भी पड़ता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जायगी।

एक सम्पन्न परिवार की कुलीन स्त्री को यह आदत पड़ गई थी कि वह जब कभी किसी जौहरी की दुकान में जाती, तो उसके 'शो-केस' में सजाये गये किसी दामी गहने को उठाकर उसे चुरा ले जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठती। बहुत देर तक वह उस गहने को अपने हाथ में ही लिये रहती, पर अकस्मात् अपनी चोरी की मनोवृत्ति से स्वयं घबराकर गहने को वहीं छोड़कर वह हड़बड़ी के साथ दुकान से भाग खड़ी होती। उसके घर में गहनों की कोई कमी नहीं थी, और न अधिक गहने पहनने का कोई शौक़ ही उसे था। तिस पर भी उसकी यह अनोखी आदत क्यों पड़ी, इस सम्बन्ध में जब मनोवैज्ञानिकों ने जाँच की, तो मालूम हुआ कि बहुत दिन पहले उसने एक स्वप्न देखा था, जिसका प्रभाव उसके मन पर भयङ्कर रूप से पड़ गया। स्वप्न इस प्रकार था :—

वह एक जौहरी की दुकान में खड़ी थी। उसके सामने जवाहरात का ढेर रक्खा पड़ा था। इतने में एक डाकू उसके पास आकर खड़ा हो गया, और उस स्त्री को आदेश दिया कि वह उसके (डाकू के) लिए जवाहरात चुरा ले, डाकू ने उसे यह धमकी दी कि यदि वह जवाहरात न चुरायेगी, तो वह

उसकी मा को जान से मार डालेगा। स्वप्न में ही उस स्त्री को ऐसा जान पड़ा कि उसकी मा को डाकू ने पास ही एक बग़लवाले कमरे में बन्द कर रक्खा है, और वह अपनी मा के कराहने का शब्द सुन रही थी। मा के प्राणों की चिन्ता से घबराकर उसने एक मुट्ठी-भर जवाहरात दुकान से उठा लिये। पर शीघ्र ही उसे अपनी चोरी के कारण बड़ी ग्लानि हुई और उसने रोते हुए डाकू से यह प्रार्थना की कि वह उसे चोरी करने को बाध्य न करे और उसकी मा को छोड़ दे। यह स्वप्न देखकर वह रोती हुई जाग पड़ी।

इस स्वप्न के सम्बन्ध में यहाँ पर दो और बातों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। जब उस स्त्री की आयु बीस वर्ष की थी, तो उसे वास्तव में एक डाकू ने पिस्तौल दिखाकर घेर लिया था। स्वप्न में उसने जिस डाकू को देखा था उसकी आकृति उस वास्तविक डाकू से मिलती-जुलती थी। दूसरी बात यह है कि जिस समय उस स्त्री ने पूर्वोक्त स्वप्न देखा उस समय उसकी मा बहुत बीमार थी और मरणासन्न अवस्था में पड़ी हुई थी। इस प्रकार उसके एक स्वप्न में उसकी दो विभिन्न आशंकायें मिलकर एक रूप हो गईं—एक तो यह कि कहीं वही डाकू या उसी के समान और कोई दूसरा डाकू उसे फिर कभी घेर न ले, और दूसरी यह कि उसकी मा कहीं सचमुच मर न जाय।

उसके स्वप्न का कारण तो सहज में मालूम हो गया, पर उस स्वप्न का जो प्रभाव बाद में उसके वास्तविक जीवन पर पड़ा वह सचमुच अत्यन्त आश्चर्यजनक था। वह स्वप्न उसके लिए केवल स्वप्न ही नहीं रह गया था, बल्कि उसने उसे इस क़दर भयभीत कर दिया था कि उसके अन्तर्मन में वह उसके जीवन की एक वास्तविक घटना की तरह अंकित हो गया था। फल यह हुआ कि जब कभी वह

किसी जौहरी की दुकान में जाती, उक्त स्वप्न का दृश्य एक जीते-जागते चित्र की तरह उसके सचेत मन के आगे खड़ा हो जाता, और वह यह अनुभव करने लगती कि स्वप्न का डाकू सचमुच उसके सामने पिस्तौल हाथ में लिये खड़ा है, और उसके मा की हत्या का भय दिखाकर उसे जवाहरात चुराने के लिए विवश कर रहा है। फल यह होता था कि कोई एक रत्न-जड़ित गहना उठाकर उसे चुराने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठती। बाद में जब एक मनोवैज्ञानिक डाक्टर के पास वह स्त्री अपने उस अनोखे मानसिक रोग के इलाज के लिए गई, तो डाक्टर ने उसके मूल मनोभावों का विश्लेषण करके उसे समझाया कि किन कारणों से उसके मन में जवाहरात की चोरी की प्रवृत्ति जाग पड़ी। अपने अन्तर्मन में छिपे हुए उद्देश्यों से परिचित होते ही उसका मानसिक रोग दूर हो गया और तब से उसे कभी जवाहरात चुराने की इच्छा नहीं हुई।

भयावने स्वप्नों से मुक्ति का उपाय

यदि हम अपने स्वप्नों के मूल मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त कर लें, तो भयावने स्वप्नों का कोई बुरा प्रभाव हमारे मन पर नहीं पड़ने पायेगा।

जिन व्यक्तियों को भयावने स्वप्न देखने की आदत पड़ जाती है, वे यदि चेष्टा करें, तो उससे छुट्टी पा सकते हैं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। हमारे स्वप्नों में हमारे अन्तस्तल में दबी हुई भावनायें साकार रूप में चित्रित हो उठती हैं। जो व्यक्ति अपनी हीनता और आत्मग्लानि की अनुभूति से अधिक पीड़ित होकर समाज और संसार से विमुख हो जाते हैं, और अपने ही भीतर के काल्पनिक जगत् में निवास करके अपनी भावुकता के भौतिक छायाचित्रों के साथ विचरण करते रहते

हैं, वे ही अधिकतर भयावने स्वप्न देखते हैं। इसलिए दुःस्वप्नों से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि मनुष्य अपने-आपमें बँधा न रहे, और अपने को समाज का एक अंग मानकर प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख का साक्षी बननें की चेष्टा करे। जिस प्रकार कोई बच्चा किसी अन्धकारपूर्ण घर में अकेला पड़ा रहने से बहुत घबरा उठता है, और तरह-तरह की भौतिक छायाओं के भय से भीत हो उठता है, पर दूसरे व्यक्तियों के बीच में रहने से उसके भय की भावनायें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार संसार से विच्छिन्न होकर अपने ही हृदय के अन्धकार में पड़ा रहनेवाला कल्पना-प्रिय व्यक्ति जब मनुष्य के बीच में आकर उनके साहचर्य में रहने लगता, और उनमें वैसी ही दिलचस्पी लेता है जैसी अपने में, तो उसकी अन्तश्चेतना के भीतर दबी पड़ी आशंकायें धीरे-धीरे दूर होती चली जाती हैं, और उसके स्वप्न भी सुखद रूप धारण करने लगते हैं।

बहुत-से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से समाज और संसार के बीच में हिलते-मिलते रहते हैं, पर वास्तव में अज्ञात रूप से वे सब समय केवल अपने ही सम्बन्ध में सोचते रहते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति जब भयङ्कर स्वप्न देखने की शिकायत करें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उन्हें यह जानना चाहिए कि केवल समाज के बीच में रहने से ही कोई व्यक्ति वास्तव में सामाजिक प्राणी नहीं बन जाता। जब तक समाज के बीच में रहकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को बहुत-कुछ भूल न जायँ, और समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित न हों, तब तक हम भयङ्कर मनोविकारों से बराबर ग्रस्त रहेंगे और घोर दुःस्वप्नों के जाल से जकड़े रहेंगे।

जाग्रत् अवस्था के स्वप्न

दिन के स्वप्न रात के स्वप्नों से विशेष विभिन्न नहीं होते। रात में निद्रित अवस्था में हम जो स्वप्न देखते हैं उनका मूल उद्देश्य पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है। वह यह कि उनके द्वारा हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते रहते हैं। हमारी जो इच्छायें वास्तविक जीवन में चरितार्थ नहीं हो पातीं, उन्हें हमारी अन्तश्चेतना स्वप्नों के रूप में पूरा करने को उत्सुक रहती है। उसी प्रकार दिन में जाग्रत् अवस्था में हम जो स्वप्न देखते हैं, रंगीन कल्पनाओं की उड़ान भरते रहते हैं, उनका भी मूल उद्देश्य हमारे अन्तस्तल में दबी हुई गुप्त इच्छाओं को चरितार्थ करने का होता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो जाग्रत् अवस्था में किसी-न-किसी रूप में कोई स्वप्न न देखता हो। बच्चों से लेकर बूढ़े तक, सभी व्यक्ति समय-समय पर स्वकल्पित स्वप्नों में निमग्न रहते हैं।

बच्चों के जीवन पर दिवा-स्वप्नों का प्रभाव

दिवा-स्वप्न (अर्थात् वे स्वप्न जिन्हें हम जाग्रत् अवस्था में देखते हैं) बच्चों के जीवन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। जो बच्चे अपनी शारीरिक अथवा पारिवारिक परिस्थितियों के कारण अपनी क्षीणता तथा हीनता की अनुभूति से विशेष रूप से ग्रस्त रहते हैं, वे वास्तविक जीवन में अपने को पिछड़ा हुआ पाकर काल्पनिक जगत् में अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को चरितार्थ करने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार की काल्पनिक इच्छा-पूर्ति में बच्चे को एक प्रकार का मादक रस प्राप्त होता है। धीरे-धीरे वह इस रस का आदी हो जाता है, और उसके जीवन का अधिकांश भाग कल्पना-लोक में ही बीतता है। इस प्रकार का बच्चा परवर्ती जीवन में विशेष सुविधा और उपयुक्त वाता-

वरण पाने पर एक अच्छा कवि या कहानीकार बन सकता है, और यदि उसके जीवन का विकास विकृत रूप से हुआ, तो वह एक नम्बर का मिथ्यावादी, जालसाज़ और क्रान्तिकारी बन जाता है।

छोटे-छोटे बच्चों को बहुधा बात-बात में अकारण ही झूठ बोलते हुए पाया जाता है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनकी इस प्रवृत्ति की जाँच की जाय, तो पता लगेगा कि ऐसे बच्चे विशेष रूप से कल्पना-प्रिय होते हैं। वास्तविक जगत् में उनकी जो मनोकामनायें पूरी नहीं हो पातीं उन्हें वे पहले काल्पनिक स्वप्नों-द्वारा चरितार्थ करते हैं, और बाद में उन स्वप्नों को सत्य के रूप में अपने साथियों के आगे प्रकट करने की प्रवृत्ति उनमें जग उठती है। बच्चा ज्ञात या अज्ञात रूप में यह जानता है कि उसने कल्पना-द्वारा जिन मन के लड्डुओं की सृष्टि की है, वे वास्तविक नहीं हैं। पर यदि उसके साथियों को यह विश्वास दिलाया जा सके कि वे वास्तविक हैं, तो उन काल्पनिक लड्डुओं के उपभोग का आनन्द अधिक बढ़ जाता है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर बच्चे की अन्तश्चेतना उसे झूठ बोलने के लिए उकसाती है। मान लिया जाय कि किसी बच्चे ने अपने किसी साथी या किसी अपरिचित बच्चे के पास बच्चों की साइकिल देखी। उसे देखकर उसके मन में भी साइकिल प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई, यह इच्छा स्वभावतः उसके मन में दिवा-स्वप्न का रूप धारण करेगी। वह यह कल्पना करने लगेगा कि उसके पास एक ऐसी बढ़िया साइकिल है जैसी किसी दूसरे बच्चे के पास नहीं हो सकती, और वह उस पर सवार होकर उसके साथी दूसरे बच्चों की ईर्ष्या का पात्र बन रहा है। इस कल्पना से निश्चय ही उसकी अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति होने के कारण उसे सुख प्राप्त होगा। पर स्वप्न-भंग होने पर वह

निश्चय ही वास्तविकता और कल्पना के अन्तर का अनुभव करेगा। इसलिए कल्पना के उस पूर्व-अनुभूत सुख को स्थायी बनाने के उद्देश्य से वह अपने साथियों में यह प्रचारित करना चाहेगा कि उसके पास वास्तव में एक बहुत बढ़िया साइकिल है।

झूठ बोलने के अभ्यास का कारण

जो बच्चा सब समय अकारण झूठ बोलते रहने का अभ्यास पकड़ लेता है, वह बहुधा यह नहीं जानता कि स्मृति और कल्पना के बीच अन्तर क्या है। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि अन्तर जानने पर भी वह अपनी अतृप्त आकांक्षा की चरितार्थता के उद्देश्य से स्मृति को कल्पना और कल्पना को स्मृति का रूप देने का आदी हो जाता है और धीरे-धीरे इस भ्रम में पड़ जाता है कि दोनों में कोई भेद है या नहीं। माता-पिता की उपेक्षा, दण्ड का भय, अभिभावकों का कड़ा शासन बच्चे को कल्पना-प्रिय बना देता है, जिसके कारण उसे झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। झूठ बोलने से यदि प्रथम बार उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गई, तो उसे फिर झूठ बोलने के लिए उत्साह मिलता है। धीरे-धीरे यह आदत उसके स्वभाव के साथ मिलकर एक रूप बन जाती है। बचपन में एक बार इस तरह की आदत पड़ जाने से परवर्ती जीवन में उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है।

जिन वयस्क व्यक्तियों का स्वभाव झूठ बोलने का होता है, उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि बचपन में उनके व्यक्तित्व का विकास ठीक तरह से नहीं हो पाया है, और उनके प्रति उपेक्षा दिखाई गई, जिसके फलस्वरूप वे कल्पना-प्रिय बन गये हैं।

सकारण झूठ बोलने की आदत यद्यपि निन्दनीय है, पर

उसके पीछे तो भी व्यक्ति का कोई सांसारिक स्वार्थ रहता है। किन्तु अकारण झूठ बोलनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी संसार में कुछ कम नहीं पाई जाती। किसी पार्थिव स्वार्थ की पूर्ति की इच्छा न रहने पर भी कल्पना को सत्य प्रमाणित करने की यह जो प्रवृत्ति कुछ विशेष व्यक्तियों में हम पाते हैं, उसे एक प्रकार का मानसिक रोग समझना चाहिए। दिवा-स्वप्नों में जो व्यक्ति बहुत अधिक डूबे रहते हैं वे ही इस मानसिक रोग से अधिक ग्रस्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मन में एक ओर अपनी अतृप्त इच्छाओं को चरितार्थ करने की अदम्य आकांक्षा वर्तमान रहती है, दूसरी ओर वे अपनी स्वभावगत दुर्बलताओं के कारण उन्हें किसी भी अंश में सफल बनाने में समर्थ नहीं होते। फल यह होता है कि धीरे-धीरे वे अपनी कल्पनाओं को स्वयं सत्य मानकर अपने-आप को धोखा देने के तो अभ्यस्त हो ही जाते हैं, साथ ही दूसरों को भी उस विषय में धोखा देने के लिए विशेष उत्सुक हो उठते हैं।

कल्पना-प्रिय गपोड़ेबाज़

हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जो साधारण रूप से स्वस्थचित्त और शान्तप्रकृति जान पड़ते हैं, और हैं भी बड़े भले और भोले। पर वास्तविक जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई सफलता न मिलने तथा बचपन में नाना कारणों से उपेक्षित रहने से वे अत्यधिक कल्पना-प्रिय हो उठे हैं। इसका फल यह हुआ है कि वे जाग्रत् अवस्था में ही बड़े-बड़े विचित्र स्वप्न देखते रहते हैं। अपने विगत जीवन में उन्होंने प्रसिद्ध व्यक्तियों के (विशेष करके सम्पन्न व्यक्तियों के) जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ देखा अथवा सुना है, उसे अपनी कल्पना के साथ एकाकार करके उन प्रसिद्धि-प्राप्त धनी व्यक्तियों के स्थान में वे अपने

को प्रयुक्त किया करते हैं। कल्पना करते-करते वे उसमें ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि उनकी कल्पना उनके लिए सत्य का रूप धारण कर लेती है। इसके बाद अपने परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को जब वे अपने पूर्व-जीवन के संस्मरण सुनाते हैं तब लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने की डींग हाँकते रहते हैं। कभी कहते हैं कि मोतीलाल नेहरू और सर हारकोर्ट बटलर (युक्तप्रान्त के भूतपूर्व लाट) के साथ कुछ काल तक नियमित रूप से उनका खान-पान रहा है, और उन लोगों के साथ जीवन के राग-रंगों में वे सम्मिलित हुए हैं। कभी किसी बड़े लाट या कमाण्डर-इन-चीफ़ का नाम लेकर उनके साथ अपनी घनिष्ठ मित्रता के क़िस्से सुनाया करते हैं। इन महाशय के मित्रगण यद्यपि भली-भाँति जानते हैं कि उनकी ये सब गपोड़ेबाज़ी की बातें एकदम निराधार और स्वकपोलकल्पित हैं, फिर भी वे अपने हाव-भावों से अविश्वास का कोई चिह्न प्रकट न करके उनकी हाँ में हाँ मिलाते जाते हैं। कारण यह है कि यदि पूर्वोक्त गप्पी महाशय की किसी भी अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह प्रकट किया जाय, तो वे वास्तव में अपने को बहुत अधिक अपमानित समझते हैं।

गप्पियों और कहानीकारों की तुलना

ऐसे कल्पना-प्रिय गपोड़ेबाज़ अपने क़िस्सों का सिलसिला इस ख़ूबी से बनाये रहते हैं कि उनके वर्णन में कहीं किसी प्रकार की रुकावट नहीं आने पाती, और न कोई असङ्गत बात ही उनके मुँह से निकलती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, ऐसे व्यक्ति यदि क्षतिपूर्ति का उन्नत मार्ग ग्रहण करें, तो वे बड़े अच्छे कहानी-लेखक या औपन्यासिक हो सकते हैं। पर परिस्थितियों से उत्पन्न असुविधाओं के कारण उनकी क्षति-

पूर्ति विकृत उपायों का सहारा पकड़ती है और वे घोर मिथ्यावादी और गप्पी बन जाते हैं। सच्चे कहानीकार जीवन की वास्तविकता को तनिक भी नहीं भुलाते और अपनी कल्पना प्रियता को अपनी साहित्यिक कृतियों तक ही सीमित रखते हैं। बहुधा यह देखा गया है जो कहानी-लेखक जितना सच्चा कलाकार होगा वह वास्तविक जीवन में उतना ही अधिक सत्यवादी होगा। कारण यही है कि वह अपने भीतर छिपी हुई मिथ्या काल्पनिकता को समुन्नतसाहित्यिक रूप प्रदान कर देने पर मिथ्यावादिता के प्रलोभन से छुटकारा पा जाता है। पर कुछ ऐसे कच्चे कहानीकार भी होते हैं जो अपने स्वभाव की सम्पूर्ण मिथ्यावादिता को कहानी का रूप नहीं दे पाते; वे उसमें से कुछ को साहित्यिक रूप दे देते हैं, और शेष का उपयोग अपने रात-दिन के व्यावहारिक जीवन में करते हैं। ऐसे व्यक्ति अधिकांश रूप से बड़े अहंवादी और दाम्भिक होते हैं।

अहंकार-मिथ्यावादिता का एक कारण

अहंकार की मनोवृत्ति व्यक्ति को बहुधा अकारण ही झूठ बोलने के लिए प्रवृत्त कर देती है। जो बच्चे वास्तविक जगत् में जितने अधिक अल्प और दुर्बल होते हैं वे उतने ही अधिक दम्भी और मिथ्यावादी होते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि "छोटा मुँह और बड़ी बात!" दुर्बल व्यक्ति अहंकार से अधिक ग्रस्त रहने के कारण अपना झूठा बड़प्पन सबके आगे प्रकट करने के लिए छटपटाते रहते हैं। स्वभावतः वे घोर मिथ्यावादी बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने एक रोमाञ्चकर उदाहरण का उल्लेख किया है। एक बार एक व्यक्ति ने बड़े गर्व के साथ सबके आगे यह स्वीकार किया कि उसने अपनी बहन के कमरे को कार्बोनिक-एसिड-गैस से भरकर उसकी हत्या

कर डाली है। उसने यह भी कहा कि उस घातक गैस को उसने स्वयं अपने हाथ से तैयार किया था। गैस कैसे तैयार की गई इसका लम्बा वैज्ञानिक विवरण उसने सुनाया। बाद में मालूम हुआ कि वह झूठ बोल रहा था। उसकी बहन पहले ही मर चुकी थी। इस विचित्र मानसिक रोग-ग्रस्त व्यक्ति ने अकारण ही इस प्रकार की निराधार किन्तु भयंकर कल्पना से जो सुख प्राप्त किया उसका कारण केवल इस दम्भ की चरितार्थता थी कि वह कार्बोनिक-एसिड-गैस तैयार करने की विधि से भली-भाँति परिचित है।

कुछ विशेष प्रकार के मनोविकार-ग्रस्त व्यक्ति अपने गुप्त अहंकार को चरितार्थ करने के लिए अपने को भयंकर शारीरिक क्षति पहुँचाने से भी नहीं हिचकते। एक बार एक जवान लड़की ने यह बात प्रचारित कर दी कि किसी गुण्डे ने रेलगाड़ी में उस पर आक्रमण किया। इस बात की यथार्थता प्रमाणित करने के लिए उसने अपने वक्षस्थल में एक घाव दिखाया। जाँच करने पर मालूम हुआ कि उसने झूठ बात कही थी। जो घाव उसने दिखाया था वह वास्तव में उसने स्वयं अपने हाथ से अपने शरीर पर एक छुरे से उत्पन्न किया था। वह कल्पना-द्वारा अपने एक अतृप्त अहंकार को चरितार्थ करना चाहती थी। यह कल्पना करके कि वह एक बहुत सुन्दरी युवती है, वह यह प्रचारित करने की गुप्त इच्छा रखती थी कि बहुत-से युवकों को उसके प्रति आकर्षित होते देख ईर्ष्या के कारण एक व्यक्ति ने उस पर आक्रमण किया है।

पाश्चात्य देशों के कुछ मनोविकार-ग्रस्त स्त्री-पुरुष पत्र-पत्रिकाओं में अपनी चर्चा होने की आकांक्षा से भयंकर काण्ड कर बैठते हैं, और इनके झूठे कारण बताते हैं। एक बार एक फ्रेञ्च ने घर वापस आने पर अपनी स्त्री को अचेत अवस्था में

पाया। उसका गला किसी ने एक रस्सी बाँधकर घोंट डाला था। कमरे की सब चीजें अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ी हुई थीं। पति ने घबराकर पास-पड़ोसियों को इस बात की सूचना दी। बाद में जब उसकी स्त्री होश में आई, तो उसने कहा कि काला बुर्क़ा पहने दो व्यक्तियों ने उसका गला घोंट डाला और उससे चाभी छीनकर बक्स से प्रायः दो हज़ार रुपये और कुछ मूल्यवान जवाहरात उठाकर वे लोग भाग निकले। जाँच करने पर मालूम हुआ कि सारी घटना मन-गढ़न्त थी। बाद में उस स्त्री ने स्वयं यह स्वीकार किया कि उसने पत्रों में अपने सम्बन्ध में एक सनसनी-खेज़ समाचार छपने की आशा से स्वयं अपना गला घोंटकर सारा काण्ड रच डाला था।

अकारण विद्वेष का भयंकर रूप

दूसरों के प्रति अकारण विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर भी बहुत-से व्यक्ति अपनी कल्पना की उड़ान को बहुत दूर तक ले जाकर अन्त में उस भयंकर कल्पना को सत्य का रूप देने के लिए उत्कण्ठित हो उठते हैं। इस सम्बन्ध में एक १९ वर्ष की अस्थिर-चित्त लड़की का क़िस्सा बड़ा मनोरञ्जक है। इस लड़की ने मजिस्ट्रेट के पास जाकर एक बार तीन विशेष व्यक्तियों के नाम लेकर उनके विरुद्ध यह शिकायत की कि इन तीनों ने मिलकर एक व्यक्ति को किसी तालाब में डुबा दिया। तीनों व्यक्ति गिरफ़्तार किये गये और उन्हें क़ैद भी हो गई। पर शीघ्र ही उन्हें छोड़ देना पड़ा, क्योंकि लड़की की बात बाद में एकदम निराधार सिद्ध हो गई। लड़की के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से मालूम हुआ कि जिस व्यक्ति के डुबाये जाने की बात उसने कही थी उसे वह गुप्त रूप से चाहती थी। पर वह व्यक्ति उसे नहीं, बल्कि किसी और को चाहता था। फलतः उस लड़की के मन में विद्वेष की

भावना उत्पन्न हुई और यह कल्पना जगी कि वह व्यक्ति डूब गया है। कल्पना की दौड़ आगे बढ़ती चली गई, और बाद में उस व्यक्ति की कल्पित मृत्यु से उसके मन में खेद उत्पन्न हुआ। इस कारण उसका विक्षेप इस व्यक्ति से उठ गया, और तीन निरपराध व्यक्तियों पर अपने मन के पाप का सारा बोझ उतार दिया।

इन सब उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जाग्रत अवस्था में हम जो कल्पनायें करते रहते हैं, वे हमारी अन्तश्चेतना की गुप्त इच्छाओं की चरितार्थता के उद्देश्य से ही उत्पन्न होती हैं, और इस प्रकार के दिवा-स्वप्नों में अत्यधिक तन्मय रहने की आदत जिन व्यक्तियों में पड़ जाती है, वे कभी-कभी उन्हें सत्य समझने लगते हैं, और दूसरों के आगे भी उन्हें सत्य प्रमाणित करने के लिए उत्सुक हो उठते हैं।

पञ्चतन्त्र की कहानी

जाग्रत् अवस्था के स्वप्नों के सम्बन्ध में पाठकों ने बहुत-स कहानियाँ पढ़ी होंगी। पञ्चतन्त्र में एक कहानी है, जिसका सारांश यह है कि एक निर्धन व्यक्ति एक बार एक कुम्हार की दुकान में बैठे-बैठे यह कल्पना करने लगा कि कुछ रुपया जमा हो जाने पर वह विवाह करेगा। उसकी स्त्री अवश्य ही सुन्दरी होगी और वह जो काम उससे करने के लिए कहेगा वही करेगी। फिर उसने यह कल्पना की कि उसने अपनी स्त्री से किसी विशेष काम को करने की आज्ञा दी, पर उसने अस्वीकार कर दिया। क्रुद्ध हो करके उसने अपनी लाठी से ज्यों ही उसे पीटा त्यों ही उसका स्वप्न भं हो गया। उसने देखा कि लाठी की चोट उसकी काल्पनिक स्त्री पर नहीं, बल्कि कुम्हार की दुकान में रक्खे हुए मिट्टी के बर्तनों पर पड़ी, जिसके कारण कुम्हार के बहुत-से बर्तन चकनाचूर हो गये।

अनुभवी पाठकों से यह बात छिपी न होगी कि इस प्रकार की घटनायें बहुधा वास्तविक जगत् में भी घटती रहती हैं।

एक मनोवैज्ञानिक ने इस सम्बन्ध की एक मूल घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक बार एक अविवाहिता योरपीय स्त्री यह कल्पना करते हुए रास्ते में चली जा रही थी कि उसके एक मनचाहे व्यक्ति से उसका विवाह हुआ है। अपने विवाहित जीवन के सुख की कल्पना करते-करते अन्त में इस कल्पना ने उसे धर दबाया कि उसका कल्पित पति उससे असन्तुष्ट हो गया है और उसे तलाक़ देकर किसी दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ने के फेर में है। इस तरह की कल्पना से उसके अनजान में उसकी आँखों से सचमुच आँसू आ गये, और वह प्रायः सिसकने लगी।

उपचार

ऊपर के दो दृष्टान्तों से यह प्रमाणित होता है कि जाग्रत अवस्था के स्वप्नों का प्रभाव हमारे मन पर रात के स्वप्नों से कुछ कम नहीं पड़ता। बल्कि रात के स्वप्नों की अपेक्षा दिन के स्वप्नों का प्रभाव हमारे चरित्र पर अधिक स्थायी रूप से पड़ता है। इसलिए प्रारम्भ में ही इस प्रकार की कल्पना-प्रियता से बच्चों को दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिए। जो बच्चे अधिक कल्पना-प्रिय होते हैं उनकी प्रवृत्ति को साहित्यिक रूप देने की चेष्टा करने से बहुत लाभ होने की सम्भावना है। अन्यथा वे बाद में भयंकर दुष्कर्मी हो सकते हैं।

यह तो हो नहीं सकता कि जाग्रत् अवस्था में हम जो स्वप्न देखते हैं उनकी पूर्ति वास्तविक जगत् में करके उनका उपचार किया जाय। इस प्रकार के स्वप्नों की दौड़ की कोई सीमा नहीं होती। इसके अतिरिक्त ऐसे स्वप्न व्यक्ति की घोर स्वार्थपूर्ण

इच्छाओं के द्योतक होते हैं, जिनसे समाज या संसार का कोई लाभ नहीं हो सकता। साथ ही यह भी उचित नहीं है कि इस प्रकार की कल्पनाओं की बाढ़ को एकदम रोक दिया जाय। क्योंकि ऐसा करने से उसकी प्रतिक्रिया परोक्ष उपायों से जो रूप धारण करेगी वह व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध होगी।

इस कारण सबसे अच्छा उपाय यही है कि बच्चे के काल्पनिक स्वप्नों को ऐसा रूप देने का प्रयास किया जाय जो समाज के लिए सामूहिक रूप से हितकर सिद्ध हो। उसे जीवन के सच्चे अनुभव प्राप्त करके एक विशिष्ट आदर्शवादी कहानीकार या उपन्यास-लेखक बनने को उत्साहित किया जाय, यह प्रस्ताव हम पहले ही उपस्थित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से मार्गों की ओर उसकी कल्पनाओं को नियोजित किया जा सकता है। प्रायः प्रत्येक बच्चा अपनी विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किसी विशेष क्षेत्र में अपने पास-पड़ोस के बच्चों से आगे बढ़ने की कल्पना करता रहता है। इस कारण विभिन्न बच्चों की विभिन्न प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त करके प्रत्येक को समुचित शिक्षा-द्वारा इस बात के लिए उत्साहित करना चाहिए कि वह अपने क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने की कल्पना के साथ ही उद्योग भी करे; पर अपने उस विशेष लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हुए यह बात सदा ध्यान में रक्खे कि अपने बड़प्पन के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक हित को सामने रखकर उसे आगे बढ़ना होगा।

इच्छाशक्ति और आत्मसुधार

बच्चों के विषय में जो-जो बातें इस पुस्तक में लिखी गई हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बच्चा किस वातावरण में किस ढङ्ग से पलता है; इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रभाव उसके सारे परवर्ती जीवन पर कैसा पड़ता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जब शैशव-काल में ही मनुष्य के परवर्ती जीवन के क्रम और लक्ष्य निर्धारित हो जाते हैं, तो बाद में व्यक्ति से अपने स्वभाव और चरित्र के सुधार की आशा रखना क्या व्यर्थ नहीं है? इसके अतिरिक्त पाठकों के मन में यह धारणा भी जम सकती है कि मनुष्य भाग्य-विधाता के हाथ का केवल एक पुतला है, क्योंकि शैशवावस्था में ही उसके स्वभाव का साँचा निर्मित हो जाता है, जिसमें उसके बाद के जीवन के अनुभव ढलकर विभिन्न रूपों में अपने को व्यक्त करते रहते हैं और चूँकि अपनी शैशवावस्था की परिस्थितियों पर मनुष्य का कोई वश नहीं चल सकता, इसलिए स्वभावतः उसका सारा जीवन-चक्र भाग्य पर निर्भर करता है।

इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता

पर वास्तव में यह धारणा भ्रामक है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी शैशव-कालीन परिस्थितियों पर हमारे भावी जीवन की प्रगति निर्भर करती है, और उन परिस्थितियों पर हमारा कोई वश नहीं चल सकता। उस समय हम यह नहीं जान पाते कि हमारी अन्तश्चेतना किन-किन निगूढ़ उद्देश्यों से प्रेरित होकर हमारे स्वभाव का निर्माण किन-किन रूपों में करती चली जाती है। पर बाद में यदि हम चाहें, तो अपने शैशव-जीवन के इतिहास का सिंहावलोकन करके अपनी तत्कालीन मनोवृत्तियों के कारण

और कार्य से परिचित होकर हम यह जान सकते हैं कि वर्तमान समय में हमारे मन के भीतर किसी विशेष बात की प्रतिक्रिया किसी विशेष रूप से क्यों होती है। इस प्रकार अपनी मनोवृत्तियों के मूलगत उद्देश्यों से (जिनका सम्बन्ध हमारे शैशव-जीवन से रहता है) भली भाँति परिचित होकर, हम अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग-द्वारा अपने जीवन की गति को किसी सदुद्देश्य-पूर्ण आदर्श की ओर नियोजित कर सकते हैं। हमारे उद्देश्यों के अन्तर में छिपे हुए मूल भाव में तो कोई परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि उसकी जड़ निश्चित रूप से शैशव-काल में जम चुकी है। पर इच्छा-शक्ति के प्रयोग से हम उसे सुन्दर और समुन्नत रूप दे सकते हैं। अपने जन्मजात संस्कार तथा शैशव-कालीन स्वभाव-निर्माण के सम्बन्ध में हम भले ही विवश रहे हों, पर बाद में, वयस्क जीवन में, अपनी इच्छाशक्ति का विकास पूर्णतः हमारे हाथ की बात होती है। इस क्षेत्र में हमें पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है। यदि हमारी इच्छा-शक्ति दुर्बल है, और हम अपनी शैशव-कालीन मनोभावनाओं को उन्नत रूप से सञ्चालित करने की शक्ति अपने भीतर न पाकर उनके दास बनते चले जाते हैं, तो यह हमारी अपनी कमी है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति पर किसी भी बाह्य शक्ति या परिस्थितियों का दबाव नहीं पड़ सकता, वह मानवीय अन्तरात्मा की स्वतन्त्र शक्ति है। हम स्वयं उसे जितना चाहें बढ़ा सकते हैं, और जितना चाहें घटा सकते हैं। गीता का निम्न श्लोक हमारी इच्छा-शक्ति के सम्बन्ध में पूरे तौर पर लागू होता है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात्—"आत्मा का उद्धार आत्मा के द्वारा ही करे, उसे निश्चेष्ट तथा निस्तेज न बनावे। आत्मा ही अपना मित्र है, और

वही अपना शत्रु भी है।" इसका आशय परोक्ष से यह लगाया जा सकता है कि यदि हम अपनी इच्छाशक्ति को दुर्बल तथा निस्तेज बना दें तो हम निश्चय ही अपने शैशव-कालीन मनोभावों तथा जन्मगत सहज संस्कारों का दास बनकर रह जावेंगे; पर यदि हम उसे सतेज और परिपुष्ट बनाये रहें तो अपने शिशु-जीवन से प्राप्त की गई मनोवृत्तियों को हम अच्छे उद्देश्यों की ओर नियोजित करने में सफल हो सकते हैं। क्षतिपूर्ति के उन्नत उपायों को अपनाने और इच्छाशक्ति को काम में लाने से घोर प्रतिकूल वातावरण में उत्पन्न व्यक्ति भी अपने परवर्ती जीवन में किस प्रकार उन्नति कर सकता है उसका दृष्टान्त एक व्यक्ति की संक्षिप्त जीवन-कथा के रूप में नीचे दिया जाता है।

दीनू की जीवन-कथा का दृष्टान्त

दीनू का जन्म तब हुआ जब उसके माता-पिता अपने पहले के तीन बच्चों (दो लड़के और एक लड़की) के पालन-पोषण और शिक्षण का व्यय निरन्तर चुकाते रहने के कारण घोर आर्थिक संकट का सामना कर रहे थे। अपने प्रारंभिक काल के बच्चों के जन्म से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी, और उनके जन्मोत्सव भी उन्होंने बड़ी धूमधाम से मनाये थे। उनके नाम भी उन्होंने बड़े सुन्दर और प्रभावशाली रक्खे थे! सबसे बड़े लड़के का नाम रक्खा गया ज्योतिर्प्रसाद, दूसरे का नाम पड़ा प्रदीपकुमार, और लड़की का नाम रक्खा गया चन्द्रकला। पर चौथा लड़का, जिसके जन्म से माता-पिता को विशेष उल्लास नहीं हुआ था केवल 'दीनू' नाम से पुकारा जाने लगा।

दीनू के जन्म के समय उसके भाई-बहन स्कूलों में शिक्षा पा रहे थे। उनके माता-पिता विशेष करके अपने प्रथम दो लड़कों को उच्च शिक्षा दिलाने के सम्बन्ध में बड़े उत्सुक थे। यद्यपि बच्चों

की स्कूल की पढ़ाई और समुचित पालन-पोषण से ही उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ गया था, तथापि वे यह निश्चय कर चुके थे कि अपने दो लड़कों को अवश्य ही विश्व-विद्यालय की पूरी शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा देंगे, चाहे कैसे ही कष्टों का सामना उन्हें क्यों न करना पड़े। पर दीनू के जन्म से उन पर एक भार और लद गया। इसलिए इस चौथी सन्तान का स्वागत कुछ धूमधाम से न हुआ।

प्रारंभ में दीनू की मा ने उसके पालन-पोषण की ओर समुचित ध्यान दिया, पर शीघ्र ही वह अपने अनजान में छोटी-छोटी बातों में उसके प्रति कुछ उपेक्षा-सी प्रकट करने लगी। जब दीनू अपने शिशुप्राणों की किसी विशेष आकांक्षा की चरितार्थता न होने के कारण रोता था, तो उसकी मा काफ़ी देर तक उसके उस रोने के प्रति ध्यान देना आवश्यक नहीं समझती थी। साधारणतः यह भ्रामक धारणा लोगों में फैली हुई पाई जाती है कि चूँकि मा की ममता सब बच्चों के प्रति समान होती है, इसलिए उसके व्यवहार में भी कोई पक्षपात नहीं पाया जा सकता। प्रथम तो यह बात स्वयंसिद्धि के बतौर नहीं मानी जा सकती कि मा की ममता सब बच्चों के प्रति समान होती है; पर यदि यह बात मान भी ली जाय कि उसकी ममता मूलतः समान होती है, तो भी बाह्य परिस्थितियों के कारण उसका व्यवहार अपने भिन्न-भिन्न बच्चों के प्रति निश्चय ही बदलता रहता है।

कुछ भी हो, यह निश्चित है कि दीनू का पालन-पोषण प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ। जब वह कुछ बड़ा हुआ, तो उसकी मा उसे बात-बात में फटकार बताती रहती थी। अपने दो बड़े लड़कों को उसने भारी-से-भारी अपराध के लिए भी कभी नहीं फटकारा, पर दीनू के प्रति उसके मन में अज्ञात रूप से प्रारम्भ से ही जो अवज्ञा उत्पन्न हो गई थी वह बाद में आक्रोश के रूप

में बदल गई। अपनी मा की देखादेखी दीनू के बड़े भाई भी उस पर समय-असमय रोब गाँठते रहते थे। बेचारा अपनी असहायावस्था को स्वाभाविक जानकर चुपचाप सब की बातें सह लेता था। दूसरा कोई बच्चा उसके स्थान में होता, तो वह अपने विद्रोह को गन्दी-गन्दी आदतों-द्वारा व्यक्त करता। पर दीनू ने चुप रहकर, अपने ऊपर पड़नेवाली किसी भी डाट-फटकार का विरोध न करके अपना विद्रोह न प्रकट करने की आदत डाल ली।

घर में स्नेह-प्रेम से वञ्चित रहने के कारण दीनू ने बाहरवालों का स्नेह पाने के ढंग अपने अनजान में, अपने अन्तःसंस्कारों की प्रेरणा से सीख लिये। अपने पास-पड़ोस के समवयसी लड़कों के साथ अपने अच्छे व्यवहार से मित्रता स्थापित करके और बड़े-बूढ़ों के प्रति हार्दिक सम्मान प्रकट करके वह सबका स्नेह-भाजन बन गया। इस प्रकार घर की प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच में पालन-पोषण होने और घरवालों के स्नेह से वञ्चित रहने के कारण दीनू ने अपने अनजान में अपने जीवन का एक विशेष लक्ष्य निर्धारित कर लिया। वह लक्ष्य था घरवालों के सहानुभूति-हीन बर्ताव से मुक्ति पाकर किसी ऐसे वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करना जहाँ वह स्नेह और प्रोत्साहन पा सके। शैशवकाल में निर्धारित उसका यह लक्ष्य उसके सारे जीवन पर अपना प्रभाव डालता चला गया। अपने परवर्ती जीवन में भी वह जान-कर या अनजान में अपनी सफलता का केन्द्र किसी ऐसे वातावरण को बनाने की चेष्टा करता रहा, जो उसके घर से दूर हो।

कुछ भी हो, दीनू ने अपने प्रारंभिक जीवन में अपने पास-पड़ोस तथा स्कूल के साथियों का स्नेह पाकर अपने घर के जीवन की एक बड़ी भारी कमी की पूर्ति कर ली, और स्कूल की प्रतियोगि-ताओं में अच्छा स्थान पाते रहने से उसे शिक्षकों-द्वारा प्रशंसा

और प्रोत्साहन भी मिलने लगा। इस प्रकार उसने अपनी उस हीनता के अनुभव की क्षतिपूर्ति की जो पारिवारिक परिस्थिति के कारण उसके भीतर अपना घर किये बैठी थी। क्षतिपूर्ति का यह रूप स्वभावतः उन्नत और सुन्दर था। अपनी हीनता की भावना फिर भी किसी-न-किसी रूप में उसके भीतर वर्तमान थी, पर उसके कारण वह हारमान न हुआ और बुरे अभ्यासों-द्वारा उसने क्षतिपूर्ति नहीं की।

दीनू के माता-पिता ने जब देखा कि उनका उपेक्षित लड़का पास-पड़ोस के लोगों का स्नेह-भाजन बन गया है, और स्कूल में वह अपनी योग्यता का बड़ा अच्छा परिचय दे रहा है, तो उसके प्रति उनका मनोभाव बदलने लगा। अपनी पूर्ण उपेक्षा के लिए उन्हें कुछ पश्चात्ताप हुआ, और उन्होंने यह निश्चय किया कि ऋण करके भी वे दीनू को ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा देंगे।

दीनू का झुकाव संसार की विभिन्न भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने की ओर था। अपनी योग्यता और उद्योग से वह एक पारितोषिक प्राप्त करके अध्ययन के उद्देश्य से योरप चला गया। योरप से डी-लिट०, की उपाधि लेकर जब देश में लौटा तो वह किसी एक विद्यालय में भाषा-विज्ञान के अध्यापक के पद पर नियुक्त हो गया। यह विद्यालय एक ऐसे शहर में था जो उसके घर से काफ़ी दूर था। उसने अपनी इच्छा से ऐसे स्थान को पसन्द किया था। बचपन से ही उसके मन में यह संस्कार जम गया था कि घर का वातावरण उसके लिए हितकर नहीं है, इसलिए परिवर्ती जीवन में भी वह जानकर या अजान में घर से दूर रहने की चेष्टा किया करता था।

शिक्षक का कार्य उसकी प्रकृति के एकदम अनुकूल था। इस कार्य से उसे ऐसा जान पड़ा कि इतने दीर्घ समय बाद उसे

प्रथम बार अपने व्यक्तित्व के प्रस्फुटन का सुयोग प्राप्त हुआ। अपने बचपन की दुःखद स्मृतियों से जो प्रभाव उसके मन पर पड़ा था, उससे उसने यह लाभ उठाया कि जिन लड़कों को वह पढ़ाता था उनके साथ उसका अत्यन्त सहृदयतापूर्ण बर्ताव रहने लगा। इस बात से उसने अपने जीवन के लक्ष्य को सफल समझा। उसके माता-पिता ने उसके साथ जो बुरा बर्ताव किया था, उसकी क्षतिपूर्ति यदि वह विकृत ढंग से करता, तो बड़ा ज़ालिम और दबंग बन जाता। पर चूँकि वह समझदार था, और इस बात के लिए सब समय विशेष उत्सुक रहा करता था कि अपने शिशु-जीवन में जिन कमियों का अनुभव वह करता रहा उनकी पूर्ति सुन्दर, समुन्नत रूप में हो, इसलिए वह दबंग और अत्याचारी न बनकर अत्यन्त सहानुभूतिशील और सदय बन गया। यह एक प्रकार से उसके माता-पिता के अन्यायपूर्ण बर्ताव का सुरुचिपूर्ण बदला चुकाने के बराबर था।

वह अपने शिशु-जीवन के सम्बन्ध में निष्पक्ष रूप से विचार करने लगा। धीरे-धीरे उसे अपने शिशु-मन के अज्ञात उद्देश्यों का पता स्पष्टरूप से लगने लगा। उन उद्देश्यों के विश्लेषण का यह आश्चर्यजनक फल हुआ कि अपने घरवालों के प्रति उसका विद्वेष घटने लगा। वह फिर से घरवालों के साथ मेल करने को उत्सुक हो उठा। जिस शहर में उसके माता-पिता रहते थे उसी शहर के एक विद्यालय में उसने नौकरी के लिए प्रयत्न किया। फलस्वरूप वहाँ उसे पहले से भी अच्छे वेतन पर नौकरी मिल गई। इस बीच वह एक ऐसी लड़की को विवाह के लिए पसन्द कर चुका था, जो विशेष सुन्दरी न होने पर भी बड़े सहृदय स्वभाव की थी। उसके स्वभाव में उसने एक ऐसी विशेषता पाई जिसका उसके माता-पिता में सर्वथा अभाव था। दोनों ओर से विवाह की बातचीत चली और अन्त में विवाह हो गया। इस

विवाह से उसके जीवन की रही-सही कमी भी पूरी हो गई। उसके माता-पिता भी अपने पुत्र और पतोहू के गुणों से मुग्ध होकर सुखी हुए और उन्हें आशीर्वाद देने लगे। अब वे अपने पूर्व-उपेक्षित बेटे को 'दीनू' न कहकर दिनेन्द्रकुमार कहने लगे।

शैशव के अनुभवों का सदुपयोग

इस कथानक से पाठकों के आगे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि व्यक्ति की शैशवकालीन परिस्थितियाँ चाहे कैसी ही क्यों न रहें, और उनका चाहे कैसा ही गहरा प्रभाव उसके जीवन पर क्यों न पड़े, अपनी इंच्छाशक्ति के प्रयोग से वह क्षतिपूर्ति के उन्नत रूपों का आश्रय ग्रहण करके अपने परवर्ती जीवन को सुखमय और समाज के लिए उपयोगी बना सकता है। शैशवकाल की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न अनुभूतियाँ हमारा पिण्ड नहीं छोड़तीं, इसमें सन्देह नहीं; पर हम परवर्ती जीवन में यदि चाहें, तो उन अनुभूतियों का सुन्दर सदुपयोग कर सकते हैं; अपने प्रारंभिक जीवन के कड़ुवे अनुभवों से ग्रस्त रहने के कारण अपने सारे जीवन में कटुता लाने के बदले हम इच्छाशक्ति की सहायता से अपने शिशु-जीवन में निर्धारित लक्ष्य को सुन्दर और समुन्नत रूप दे सकते हैं। लक्ष्य नहीं बदल सकता, पर उसके रूप को बदलना हमारे हाथ की बात है।

शैशवावस्था की अनुभूतियों की कटुता से छुटकारा पाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अपने शैशवकालीन मनोभावों के अज्ञात, गुप्त उद्देश्यों को मालूम करने की चेष्टा की जाय। वर्तमान युग का यह निश्चित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि व्यक्ति के अन्तर्मन में छिपे हुए मूल उद्देश्यों का पता मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-द्वारा लगा लेने पर उन मनोविकारों का प्रभाव जाता रहता है, जिनसे व्यक्ति विशेष रूप से पीड़ित रहता है। दीनू के सम्बन्ध में पाठकों

ने अभी पढ़ा है कि अपने शिशु-जीवन के सम्बन्ध में निष्पक्ष रूप से विचार करने पर धीरे-धीरे उसे अपनी तत्कालीन मनोभावनाओं के भीतर छिपे हुए मूल उद्देश्यों का पता लगता चला गया; जिसका फल यह हुआ कि शैशवावस्था की अनुभूतियों का प्रभाव उसके मन पर से बहुत-कुछ हट गया।

जीवन की वास्तविकता

बचपन में मनुष्य का मन मोम की तरह कोमल होता है और उस पर विशेष-विशेष पारिवारिक परिस्थितियों तथा माता-पिता अथवा अभिभावकों के शील-स्वभाव और व्यवहार का प्रभाव अज्ञात रूप से पड़ता चला जाता है। पर बाद में व्यक्ति जब संसार की वास्तविकता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता जाता है तो इच्छा करने पर अपनी अज्ञानावस्था के प्रभावों को अपने व्यक्तिगत चरित्र की उन्नत तथा सामाजिक कल्याण के लिए उपयोगी बना सकता है। हमारी शैशवकालीन अनुभूतियाँ कथा-कहानियों के भूत-प्रेतों की तरह होती हैं। उनसे यदि हम भयभीत होकर हारमान हो जायँ, तो वे जीवन भर हमें अपना दास बनाकर विकृति तथा दुर्गति की चरमावस्था को पहुँचाने की चेष्टा करती रहती हैं; पर यदि हम इच्छाशक्ति से काम लेकर उन्हें अपने वश में कर सकें तो वे हमारे परवर्ती जीवन के निर्माण में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

जीवन की वास्तविकता से हम जितना अधिक परिचित हों और उस वास्तविकता के साथ अपनी मनोभावनाओं का सामञ्जस्य स्थापित करने की जितनी अधिक चेष्टा करें, उतना ही हमारे लिए हितकर होगा। शैशव-काल के कड़ुवे अनुभवों से प्राप्त की गई अपनी हीनता की भावना हमें आत्मगत बना देती है, अर्थात् हमें ऐसा निकम्मा बना देती है कि हम सब समय केवल

अपने ही सम्बन्ध में सोचते रहते हैं। यह मनोवृत्ति व्यक्ति के विनाश का सबसे मूल कारण है। इससे हम जितना अधिक छुटकारा पा सकें, उतना ही अच्छा है। अपने सम्बन्ध में हम जितना कम सोचें और दूसरों के सम्बन्ध में जितना अधिक सोचने की आदत डालें, उतना ही हम वास्तविक आत्मोन्नति करने में समर्थ होते जायँगे। यह तभी हो सकता है, जब हम अपने प्रारंभिक जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में निष्पक्ष रूप से विवेचन करके अपने मनोभावों के गुप्त उद्देश्यों का पता लगायें, और अपने स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों से परिचित होकर उन्हें समुन्नत रूप देने के प्रयत्न में कटिबद्ध हो जायँ।

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के मूल में जो निगूढ़ प्रवृत्ति काम करती है वह मनुष्य की प्रायः सभी सहज, जन्मजात वृत्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिकों का यह कहना है कि मनुष्य के समस्त जीवन के विकास अथवा ह्रास का चक्र इसी मूल प्रवृत्ति की विकृति अथवा समुन्नति पर निर्भर करती है। उनके कथनानुसार मानव-मन की जितनी भी भावनायें बनती या बिगड़ती चली जाती हैं, उसके चरित्र का गठन या दुर्घटन जिन-जिन रूपों में होता चला जाता है, उन सब की जड़ में स्त्री-पुरुष का यही द्वन्द्वात्मक आकर्षण-विकर्षण है। उनका यह भी मत है कि बहुत छोटी अवस्था में या द्वन्द्व-प्रवृत्ति मानव-शिशु के मन पर अज्ञात, अस्पष्ट और परोक्ष रूपों से अपना प्रभाव-विस्तार करने लगती है, और उस प्रभाव की प्रतिक्रियायें किन-किन रूपों

में उसके सचेत मन अथवा अन्तश्चेतना पर होती रहती हैं, इस बात से उसके समस्त परवर्ती जीवन की गतिविधि का अनुमान लगाया जा सकता है।

मानव-जीवन पर 'सेक्स' का प्रभाव

हम यद्यपि 'सेक्स' को उतना अधिक महत्त्व नहीं देते जितना कि फ्रायड-प्रमुख मनोवैज्ञानिकगण देते रहे हैं, तथापि यह बात हम कदापि अस्वीकार नहीं कर सकते कि इस सहज प्रवृत्ति का बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है। हमारे जीवन की बहुत-सी क्रियाएँ इसी वृत्ति से प्रेरित होती हैं। मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में भी इस सहज प्रवृत्ति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री इस प्रवृत्ति को किसी-न-किसी रूप में चरितार्थ करने के लिए जीवन के प्रारंभिक काल से ही जानकर या अनजान में छटपटाती रहती है। यौवन-काल के प्रारम्भ में यदि इस प्रवृत्ति की चरितार्थता सहज, स्वाभाविक रूप में न हो पाई तो उसका फल व्यक्ति के मानसिक जीवन के लिए अत्यन्त भयंकर सिद्ध हो सकता है। केवल यौवन-काल तक ही व्यक्ति पर इस जन्मजात प्रवृत्ति का प्रभाव सीमित नहीं रहता; जीवन के प्रायः अन्तिम काल तक यह किसी-न-किसी रूप में अवश्य वर्तमान रहती है, और व्यक्ति की मनोधारा को परि-चालित करती रहती है। यौवन-काल का प्रबल उद्वेग समाप्त होने पर अधिक करके अज्ञात रूप से यह अपना चक्र चलाती रहती है।

सभ्य मानव के लिए सबसे अधिक विडम्बना की बात यह है कि जो सहज प्रवृत्ति उसके जीवन पर इतना अधिक प्रभाव डालती है, उसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की इतनी कम सुविधा उसे मिलती है जो नहीं के बराबर

है। समस्त सृष्टिचक्र के मूल में स्थित इस आदि संस्कार को सभ्य मनुष्य ने घोर निन्दनीय क़रार देकर उसे पाप का मूल कारण बताया है, जिसका फल यह हुआ है कि हमें छुटपन से ही 'सेक्स' की भावना को मन के अतल गह्वर के भीतर अधिक से अधिक गहराई में दबाते रहने की शिक्षा दी जाती है, और यौवन-काल में भी जब कि यह प्रवृत्ति स्वभावतः दुर्निवार और अदमनीय हो उठती है, उसकी स्वाभाविक चरितार्थता की सुविधा बहुत-से व्यक्तियों को समुचित रूप से प्राप्त नहीं होती।

दमन का भयंकर परिणाम

यह स्वाभाविक नियम है कि मन के किसी भी उद्वेग के सहज प्रस्फुटन में जब कोई बाधा प्राप्त होती है तो वह उद्वेग या तो परोक्ष उपायों से अप्राकृतिक रूपों में बाहर को फूट पड़ेगा या समुन्नत, अपार्थिव रूपों में। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे समाज में अधिकतर विकृत अप्राकृतिक उपायों द्वारा ही 'सेक्स'-सम्बन्धी अतृप्त वासना को चरितार्थ करने की मनोवृत्ति पाई जाती है। 'सेक्स' सम्बन्धी सामाजिक शासन हमारे समाज में जितना कड़ा है, उतना पाश्चात्य समाज में नहीं। समाज का शासन मानकर हमारे युवकगण इस प्रवृत्ति को बाहर से दमन करते जाते हैं; पर भीतर से इस दमन की जो भयंकर प्रतिक्रिया होती है, वह उनके सारे परवर्ती जीवन की मनोधारा को विकृत और विषैली बना देती है। मनोविकारों से ग्रस्त व्यक्तियों की एक बहुत बड़ी संख्या आज हम जो अपने समाज में पाते हैं, 'सेक्स'-सम्बन्धी मनोवृत्ति का दमन उसके प्रधान कारणों में से एक है। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के छात्रों की आपस की बातचीत से जो लोग परिचित हैं वे भली-भाँति जानते हैं

कि उनकी प्राय: अस्सी प्रतिशत बातों में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर अश्लील इंगित और गन्दे संकेत भरे पड़े रहते हैं, इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि सामाजिक दमन-चक्र के कारण उनकी जो मिथुन-मनोवृत्ति दबी पड़ी रहती है, वह इसी प्रकार के विकृत उपायों से अपने को व्यक्त करने के लिए छटपटाती रहती है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय, और परिस्थिति की वास्तविकता का ध्यान रक्खा जाय तो इस प्रकार के अश्लील वार्तालाप की यह उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ती है कि उससे उनके मन के विकार बहुत कुछ बाहर को फूटकर साफ़ हो जाते हैं। पर नैतिक और सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से देखने पर निश्चय ही वह निन्दनीय सिद्ध होगा। अब प्रश्न यह है कि कौन दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए—मनोवैज्ञानिक या नैतिक ? हमारी सम्मति में दोनों दृष्टिकोण ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं में कुछ ऐसे सुधार किये जायँ जिनके कारण व्यक्तियों की वर्तमान मनोवैज्ञानिक विषमता भी बहुत कुछ दूर हो जाय और नैतिक शृङ्खला भी बहुत ढीली न होने पाये। इनमें से एक सुधार का जो प्रस्ताव हम उपस्थित करना चाहते हैं वह यह है कि विद्यालयों में लड़कों और लड़कियों की सहयोगात्मक शिक्षा का प्रचलन कर दिया जाय। इस सुधार में थोड़ा-बहुत ख़तरा अवश्य है; पर रूढ़िवादी इस सम्बन्ध में जिन अतिशयोक्तिपूर्ण आशंकाओं का परिचय देते हैं, उनसे हम तनिक भी सहमत नहीं हैं। प्रत्येक नये सुधार में कुछ ख़तरों का सामना स्वभावत: करना पड़ता है। पर यदि उनसे भयभीत होकर सुधार का उद्योग ही न करने का उपदेश यदि कोई रूढ़िवादी दे तो निश्चय उसकी बात हास्यास्पद समझी जायगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्त और पर्दानशीन स्त्रियों की तुलना

सहयोगात्मक शिक्षा के प्रचलन से अनैतिकता और उच्छृङ्खलता का बोलबाला हो उठेगा, यह आशंका यदि पूर्ण-रूप से नहीं तो बहुत-कुछ अंशों में भ्रामक अवश्य है। सहशिक्षा से एक यह लाभ हमारे तरुण-सम्प्रदाय को होगा कि लड़के और लड़कियाँ एक-दूसरे को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से समझने की सुविधा प्राप्त कर लेंगे। शिक्षिता लड़कियों के सम्बन्ध में हमारे समाज के रूढ़िवादी वयस्क पुरुषों की तरह ही हमारे नवयुवकों के मन में यह घोर भ्रान्त धारणा बद्धमूल पाई जाती है कि चूँकि वे पर्दा तोड़कर बी० ए०, एम० ए० की डिगरियाँ प्राप्त करके पुरुषों की समकक्षता में आने लगी हैं, इसलिए स्वभावतः उनका झुकाव नैतिक उच्छृङ्खलता की ओर हो जाता है। इसलिए उनके सम्बन्ध में वे आपस की बातों में जो आक्षेप करते हैं वे बहुत ही असम्मानपूर्ण, दुर्नीतिमूलक और घृणित होते हैं। वे यह नहीं सोचते कि पर्दे के बद्ध और अज्ञान के अन्धकार से घिरे हुए वातावरण में पशुओं की तरह बन्द पड़ी हुई स्त्रियों की अपेक्षा मुक्त और ज्ञान के प्रकाश से पूर्ण जगत् में विचरण करनेवाली स्त्रियों में नैतिक शिथिलता अथवा 'सेक्स' सम्बन्धी विकृति अधिक नहीं पाई जा सकती। हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्त स्त्रियों में नैतिक दुराचार का एकान्त अभाव रहता है। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि परदे से निकलते ही कोई स्त्री पहले की अपेक्षा अधिक दुराचारिणी बन जाय, यह कल्पना अत्यन्त अन्यायमूलक और भ्रमपूर्ण है। पर्दे के भीतर बन्द स्त्रियों में प्रकट दुराचार भले ही कम पाया जाता हो; पर गुप्त दुराचार उनमें स्वभावतः मुक्त स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पाया जायगा। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि

परदानशीन स्त्रियों में सामाजिक शासन की कड़ाई के कारण मनोभावों का दमन अधिक होता है, जिसके फलस्वरूप उनमें मानसिक विकृतियाँ भयङ्कर रूप से घर कर लेती हैं। केवल पर-पुरुष से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेने की बात को ही दुराचार का चरम निदर्शन मान लेना अज्ञानता का निदर्शन है। मानसिक व्यभिचार तथा दूसरे प्रकार की मनोविकृतियाँ उससे भी अधिक दुर्नीतिमूलक समझी जानी चाहिएँ। बद्ध वातावरण से मुक्त स्त्रियों के सम्बन्ध में यह भ्रमपूर्ण धारणा यदि तर्क के लिए सत्य मान भी ली जाय कि पर-पुरुषों से अवैध सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति उनमें बढ़ जाती है, तो भी यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि 'सेक्स' के दमन के कारण उत्पन्न होनेवाली मानसिक विकृतियाँ उनमें स्वभावतः कम हो जाती हैं।

सहशिक्षा के लाभ

चर्चा चल रही थी सहशिक्षा की। हम अपना यह मत प्रकट कर चुके हैं कि इस प्रकार की शिक्षा-योजना से लड़कों और लड़कियों को एक-दूसरे के जीवन को सहानुभूति के साथ समझने की सुविधा प्राप्त हो जायगी। इस सुविधा का प्रत्यक्ष फल यह होगा कि नारी-जाति के प्रति नव-युवकों के मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव बढ़ जायगा और वे उनके सम्बन्ध में घृणित और अश्लील शब्दों अथवा इंगितों का प्रयोग धीरे-धीरे छोड़ देंगे। समाज, संसार और जीवन के सम्बन्ध में भावों के पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा भी सहशिक्षा से हमारे तरुण-सम्प्रदाय को मिल जायगी। इसका फल भी निश्चय ही यह होगा कि 'सेक्स' सम्बन्धी मनोभावों के दमन का कुप्रभाव उनके भीतर से बहुत-कुछ हट जायगा।

सहशिक्षा से लड़कियों को सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह होगा कि युगों से नारी-जाति के मन में पुरुषों की तुलना में अपनी निपट हीनता की जो अनुभूति बद्धमूल हो गई है वह लड़कों के साथ शिक्षा-सम्बन्धी प्रतियोगिता के फल-स्वरूप बहुत कुछ दूर हो जायगी। संसार के बहुत-से विशिष्ट मनोवैज्ञानिकों की यह सम्मति है कि पुरुषों की तुलना में अपनी जिस हीनता की अनुभूति से नारी-समाज ग्रस्त है उसके कारण सामूहिक रूप से स्त्रियों का जीवन घोर अभिशापमय बन गया है। इस सहज आत्मग्लानि के कारण उनके स्वभाव में अज्ञात रूप से बहुत-सी विकृतियाँ आ जाती हैं, जो उनके जीवन को अस्त-व्यस्त और भयङ्कर निराशापूर्ण बना देती हैं। उक्त भावना की क्षतिपूर्ति के फलस्वरूप एक ओर तो वे चंडी रूप धारण करके कठिन से कठिन कार्यों में पुरुषों से होड़ लगाने लगती हैं, दूसरी ओर समाज के इतने नीचे स्तर में अपने को गिरा देती हैं जहाँ से उठ सकना उनके लिए फिर असम्भव-सा हो जाता है। क्षतिपूर्ति के ये दोनों रूप चरम भ्रान्ति के निदर्शन हैं। हमारे देश में नारी की क्षतिपूर्ति का एक चरम रूप परदानशीन स्त्रियों के घोर अंधकारमय भयङ्कर रूढ़िवादी जीवन में पाया जाता है, और दूसरा रूप मसूरी के समान आमोद-प्रमोद के स्थानों में एकत्र होनेवाली कोट-पैन्ट तथा इसी प्रकार का दूसरा पुरुष-वेश धारण-कर स्केटिंग, घुड़दौड़ आदि मर्दाने खेल-कूदों में भाग लेनेवाली अथवा बड़ी बेतकल्लुफी के साथ आम जनता के बीच में अर्द्ध-नग्न वेश में पर-पुरुषों के साथ विलायती नाचों में सम्मिलित होनेवाली महिलाओं के जीवन में दिखाई देता है। जिस प्रकार पर्दानशीन स्त्रियों की मानसिकता घोर अवास्तविक, अस्वाभाविक और रूढ़िपंथी धार्मिकता के चक्रजाल से घिरी रहती है, उसी प्रकार हमारी चरमपंथिनी बेपर्दा महिलाओं की मनोवृत्ति

उच्छृङ्खलता की ओर आगे बढ़ने पर भी फ़ैशन की कृत्रिमता के दासत्व से सिर से पाँव तक जकड़ी रहती है। दोनों प्रकार की स्त्रियाँ समाज के साथ सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण नीति का बर्ताव करना नहीं चाहतीं। इसलिए एक ऐसे नारी-समाज के संगठन की समाज को परम आवश्यकता है, जो सुन्दर स्वाभाविक ढङ्ग से अपने हीनता-बोध की क्षतिपूर्ति करके स्वस्थ और समुन्नत रूप से अपने जीवन का विकास करे; और एक ओर गृहलक्ष्मी का सच्चा रूप धारण करके, दूसरी ओर समाज के सामूहिक कल्याण की ओर अग्रसर हो।

इस सिलसिले में यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि मसूरी आदि प्रमोदपूर्ण स्थानों में दिखाई देनेवाली जिन चरमपंथिनी फ़ैशनेबुल स्त्रियों का उल्लेख हमने किया है उनकी संख्या समाज में अभी स्वल्प है। इसलिए सभी शिक्षिता स्त्रियों को उसी कोटि में रखना घोर अन्याय है। हम पहले ही कह चुके हैं कि समुचित शिक्षा-प्राप्ति से हमारी महिलाएँ उन बहुत-सी मानसिक विकृतियों से मुक्ति पा जायँगी, जो अधिकांश परदानशीन महिलाओं में पाई जाती हैं; और यदि सहशिक्षा का प्रचलन कर दिया जाय, तो दोनों पक्षों के व्यक्तियों को 'सेक्स'-सम्बन्धी मनोवृत्ति के दमन से अधिक हानि उठाने की सम्भावना नहीं रह जायगी। यदि कोई पाठक इस धारणा से ग्रस्त हों कि 'सेक्स'-सम्बन्धी मनोवृत्ति का दमन केवल पशुवृत्ति की उच्छृंखल चरितार्थता से ही दूर हो सकता है, तो उन्हें हम यह समझा देना चाहते हैं कि वे भयंकर भ्रान्ति के चक्कर में पड़े हुए हैं। पशुवृत्ति की निर्द्वन्द्व तुष्टि की ऐसी विकट प्रतिक्रिया मानव-मन पर होती है जो उसे बहुधा भीषण मानसिक रोगों का शिकार, यहाँ तक कि निपट पागल बनाकर छोड़ती है। 'सेक्स'-दमन का प्रतीकार जिस उपाय से

बहुत सुन्दर रूप से हो सकता है वह यह है कि युवक-युवतियों को अपने समुन्नत मनोभावों के पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा दी जाय। सहशिक्षा-द्वारा यह सुविधा बड़े अच्छे ढंग से दी जा सकती है। इस उपाय से थोड़े-बहुत ख़तरे की आशंका भले ही हो; पर "अधिकतम संख्या के चरम हित" की नीति के अनुसार, साधारण ख़तरे की सम्भावना के कारण सामूहिक कल्याण की नीति से विरत होना किसी रूप से भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

'सेक्स'-दमन की विकृत प्रतिक्रियाएँ

'सेक्स'-दमन के लक्षण नाना रूपों में प्रकट होते रहते हैं। जो स्त्री-पुरुष 'सेक्स'-सम्बन्धी विषयों में बहुत अधिक दिलचस्पी लेते हैं वे इस दमन से उतने ही पीड़ित रहते हैं जितना कि वे लोग जो इस प्रकार की चर्चा से अत्यन्त रुष्ट हो उठते हैं। जिन व्यक्तियों को स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण-सम्बन्धी किसी भी बात में अश्लीलता की गन्ध मिलती है उनके विषय में निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि उनकी अन्तश्चेतना में 'सेक्स'-सम्बन्धी भूख बड़ी प्रबल है, इसलिए उनका सचेत मन अपने अन्तस्तल में दबे हुए इस प्रबल मानसिक उद्वेग को उतनी ही प्रबलता से सब समय दबाते रहने की चेष्टा करता रहता है। फल यह होता है कि 'सेक्स'-विषयक अत्यन्त साधारण बात से भी वह भड़क उठता है। जो लोग दूसरों को बात-बात पर ब्रह्मचर्य का उपदेश देते रहते हैं, स्त्री-समाज से हेलमेल रखनेवाले पुरुषों तथा पुरुष-समाज में आने-जानेवाली स्त्रियों की घोर निन्दा करते रहते हैं, उन्हें भी 'सेक्स'-सम्बन्धी मनोवृत्ति के दमन का शिकार समझ लेना चाहिए। ऐयारी और ऐयाशी की कहानियों तथा उपन्यासों, फ़िल्मों में दिखाई जानेवाली

रोमाञ्च और रहस्यपूर्ण प्रेमलीलाओं, नग्न-चित्रों तथा अधनंगे नाचों में बहुत अधिक दिलचस्पी लेनेवाले व्यक्तियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

ये सब 'सेक्स'-दमन की विकृत प्रतिक्रियाओं के निदर्शन हैं। पर स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण-सम्बन्धी मनोवृत्ति के दमन की प्रतिक्रिया ऐसे रूपों में भी प्रकट होती है जो बहुत सुन्दर और समुन्नत होते हैं। इस प्रवृत्ति के दमन के फलस्वरूप मनुष्य में कला-प्रियता बढ़ जाती है। स्त्रियों और पुरुषों में एक-दूसरे को आकर्षित करने की जो सहज प्रवृत्ति वर्तमान है उसके फलस्वरूप वे अपने रूप-रंग और वेशभूषा की सजावट की ओर ध्यान देते हैं। कला के विकास की यह प्रथम सीढ़ी है, जिसका निदर्शन पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है। अपने को सुन्दर और दर्शनीय बनाने, अपने मनोभावों को मनोहर रूप देने का जो संस्कार प्रारम्भ में केवल विपरीत 'सेक्स' के व्यक्ति को आकर्षित करने के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ, बाद में उसका विकास होते रहने से उसने साहित्य, संगीत और कला का उन्नत रूप धारण कर लिया। इसलिए जो व्यक्ति उक्त तीन विषयों में दिलचस्पी लेते हुए अपने जीवन को भी सुन्दर कलात्मक रूप प्रदान करते हैं वे 'सेक्स'-दमन की समुन्नत प्रतिक्रिया का परिचय देते हैं। यह समुन्नति धार्मिक क्षेत्र में भी प्रकट होती है। हमारे सन्त कवियों का भक्तियोग 'सेक्स'-दमन की प्रतिक्रिया की ही उन्नत अभिव्यक्ति है। जिस समाज में 'सेक्स' सम्बन्धी दमन अनिवार्य हो, वहाँ के व्यक्तियों में उसकी समुन्नत प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति जगाने का प्रयास करना समाज के नेताओं का कर्तव्य होना चाहिए।

हमारी मूलगत प्रवृत्तियाँ

प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार से इस बात का पता लगाया जा सकता है कि उसकी अन्तश्चेतना में छिपी और दबी हुई मनोवृत्तियाँ किन-किन रूपों में अपने को व्यक्त करती रहती हैं। पिछले प्रकरणों में पाठकों के निकट इस सत्य को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जा चुका है। अब हम एक दूसरा दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहते हैं, जिससे मानव-चरित्र को समझने में और अधिक सुविधा पाठकों को प्राप्त हो सकेगी।

मानव-स्वभाव की कुछ विशेष-विशेष प्रवृत्तियाँ मूलगत होती हैं। इन प्रवृत्तियों को मनुष्य पैदा होने के बाद नहीं; बल्कि माँ के पेट से अपने साथ लेकर आता है। ये मूलगत प्रवृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनेक विभिन्न रूपों में व्यक्त होती रहती हैं। कौन व्यक्ति किन-किन विशिष्ट रूपों से इन मूल वृत्तियों को चरितार्थ करता है, अथवा चरितार्थ करने की चेष्टा करता है, इस बात पर उसके चरित्र के विकास या ह्रास की विशिष्टता निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितने अधिक परिमाण में और जितने अधिक सुन्दर रंग से उन्हें चरितार्थ करने में समर्थ होता है उसे उतना ही सुखी समझना चाहिए, और जो व्यक्ति उनकी तुष्टि में जितना अधिक असफल होता है उसे उसी परिमाण में दुःखी समझना चाहिए। मानव-जीवन की प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक प्रगति तथा प्रत्येक विकृति इन्हीं मूल वृत्तियों की तृप्ति, अतृप्ति अथवा अर्द्धतृप्ति का अनुसरण करती रहती है।

विविध व्यक्तियों की चरित्रगत भिन्नता,

किसी व्यक्ति के चरित्र की किसी एक विशेषता को समझने के लिए हमें सबसे पहले यह जानना चाहिए कि पूर्वोक्त मूल

वृत्तियों में से कौन-सी वृत्ति उसके उस विशेष व्यवहार के पीछे काम कर रही है। प्रत्येक मूलगत प्रवृत्ति सहस्रों विभिन्न रूपों में से किसी एक अथवा अनेकों रूपों में अपने को व्यक्त कर सकती है। वह नाना परोक्ष उपायों का अवलंबन ग्रहण करके व्यक्ति के जीवन में अपना जाल विस्तार करती रहती है। एक व्यक्ति के चरित्र से दूसरे व्यक्ति के चरित्र में केवल यह अन्तर समझना चाहिए कि वही मूल मनोवृत्तियाँ एक के जीवन में एक तरह से व्यक्त होती हैं और दूसरे के जीवन में दूसरी तरह से। प्रवृत्तियाँ मूलतः वही होती हैं; पर विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और अलग-अलग वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के प्रति उनका प्रयोग करते हैं, जिसका फल यह देखने में आता है कि सभी व्यक्तियों के जीवन में उनका प्रस्फुटन समान रूप से नहीं हो पाता। मूल प्रवृतियाँ पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से वर्तमान रहती हैं। अन्तर केवल यह है कि पशुओं के जीवन में वे सहज, सरल रूप से व्यक्त होती हैं; पर मनुष्यों के जीवन में उनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए यदि किसी चूहे को उसके बिल से पकड़कर बाहर रक्खा जाय, तो वह उस स्थान में स्थिर न रहकर तत्काल भागकर फिर से अपने बिल में चला जायगा। उसे किसी दूसरी दिशा की ओर भगाने की चेष्टा कीजिए, तो वह फिर लौटकर अपने ही बिल में चला आयेगा। अब एक मनुष्य के सम्बन्ध में कल्पना कीजिए कि वह पेट की चिन्ता से किसी दूर देश में जाकर नौकरी करने को बाध्य हुआ है। यह निश्चित है कि वह वहाँ सदा अपने घर की स्मृति से विकल रहेगा। घर को लौट चलने की मूल वृत्ति उसके भीतर पूर्वोक्त चूहे की तरह ही वर्तमान है; पर वह चूहे की तरह भागकर शीघ्र ही अपने देश को वापस नहीं चला जायगा। वह संभवतः कठोर परिश्रम

करके रुपया जोड़ने का उद्योग करता रहेगा। उसके मन में यह चिन्ता सदा बनी रहेगी कि उपयुक्त धन सञ्चित करके वह घर जाकर आराम से जीवन बिताने की सुविधा कब पा सकेगा। यह सुविधा उसे कभी प्राप्त हो सके या न हो सके, पर घर को वापस जाने की मनोवृत्ति उसमें सब समय वर्तमान रहेगी, और यह मनोवृत्ति नाना गुप्त और जटिल रूपों से उसके जीवन की गति को सञ्चालित करती रहेगी।

अन्तश्चेतना में दबी हुई प्रवृत्तियाँ

बहुधा मनुष्य की मूल वृत्तियाँ उसकी अन्तश्चेतना में दबी रहती हैं, और उसके अनजान में अपना चक्र चलाती रहती हैं। कभी-कभी हमें जीवन में सूनेपन का अनुभव होने लगता है, और एक निराशा अज्ञात रूप से हमारे मन को चारों ओर से घेर लेती है। उसका कारण ढूँढ़ने पर भी हमारे सचेत मन को कुछ पता नहीं लगता। बात यह होती है कि उसकी अन्तश्चेतना किसी विशेष मूल प्रवृत्ति की चरितार्थता जीवन में न हो सकने के कारण असन्तुष्ट रहती है, और असन्तोष का वह भाव हमारे अनजान में हमारे मन पर अपना प्रभाव डालने लगता है।

हमारी व्यक्त चेतना और अन्तश्चेतना में मूलत: कोई भिन्नता नहीं है। चेतना एक ही है, पर उसका एक भाग ऊपर प्रकाश में रहता है, और दूसरा भाग नीचे अन्धकार में दबा पड़ा रहता है। वह दूसरा भाग ही हमारी अन्तश्चेतना है। अन्तश्चेतना यद्यपि अन्धकार में दबी रहती है, तथापि वह समय-समय पर अपनी आकांक्षाओं को बेतार के तार की तरह हमारी ऊपरी चेतना अथवा सचेत मन की ओर प्रेरित करती रहती है। फल यह होता है कि हमारा सचेत मन उस गुप्त आकांक्षा की विकलता का अनुभव तो करता है; पर बिना विशेष

प्रयत्न के यह नहीं जान पाता कि वह विकलता कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई है ?

उदाहरण के लिए, जो व्यक्ति बहुत दाम्भिक होता है और समय-समय पर अपने बड़प्पन का दम्भ दूसरे व्यक्तियों पर प्रकट करता रहता है, वह बहुधा अपने दाम्भिकता के मूल उद्देश्य से स्वयं परिचित नहीं रहता । वह यह नहीं जानता कि उसकी अन्तश्चेतनां में अपनी क्षीणता की जो अनुभूति वर्तमान है उसकी क्षतिपर्ति करने के उद्देश्य से ही वह अपने अनजान में दूसरों पर झूठी धौंस जमाने की चेष्टा करता रहता है । बहुधा यह देखा जाता है कि जब कोई स्त्री किसी दूसरी स्त्री के आगे अपने शारीरिक या मानसिक कष्टों का वर्णन करने लगती है, तो वह दूसरी स्त्री सहानुभूति प्रकट करना भूलकर तत्काल अपने कष्टों का वर्णन करने को उत्सुक हो उठती है । दूसरी स्त्री की इस प्रवृत्ति से उसका यह मनोभाव व्यक्त होता है कि वह अपने साथ की स्त्री से किसी भी बात में पिछड़े रहना पसन्द नहीं करती— अपने शारीरिक तथा मानसिक कष्टों की गणना में भी नहीं; पर अपने इस उद्देश्य से वह स्वयं परिचित नहीं रहती क्योंकि उसकी जड़ उसकी अन्तश्चेतना के अन्धकार में छिपी रहती है ।

दुःख का मूल कारण जानना आवश्यक है

हमारी जितनी भी मूल प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें से यदि एक भी अतृप्त रह जाती है, तो उससे हम अपने को दुःखी अनुभव करने लगते हैं, यद्यपि बहुधा यह होता है कि उस दुःख का मूल कारण हमसे छिपा रहता है, क्योंकि वह अन्तश्चेतना के अन्धकार में दबा रहता है । दुःख के मूल कारण से परिचित न होने का फल यह होता है कि हम उसके निवारण का उपाय अन्धकार में

टटोलते रहते हैं। इस अन्ध-चेष्टा के परिणाम स्वरूप हमारा दुःख घटने के बदले और बढ़ जाता है और हमारा मन नाना जटिलताओं में उलझता चला जाता है। इसलिए किसी विशेष दुःख के निवारण का सबसे उत्तम उपाय यह है कि अन्तश्चेतना में दबे हुए उसके मूल कारण को जानने का प्रयत्न किया जाय। बहुत-से व्यक्ति जीवन-भर अपने दुःखों से छुटकारा पाने में असमर्थ रहते हैं। इसका प्रधान कारण यह देखने में आता है कि वे अपने दुःखों और असन्तोषों के मूल कारणों को जान नहीं पाते। रोग का जब ठीक निदान नहीं हो पाता, तब उसकी चिकित्सा के सब प्रयोग स्वभावतः व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इसलिए अपने दुःखों और असन्तोषों के मूल कारणों से जो व्यक्ति अपरिचित रहते हैं, वे सुख-प्राप्ति के निमित्त चाहे कैसे ही प्रयोग क्यों न करें, सुख उनके पास कभी फटकने नहीं पाता।

मनोविज्ञान हमें अपनी और दूसरों की गुप्त मनोवृत्तियों, अज्ञात भावनाओं, अन्तःस्थित असन्तोषों के मूल कारणों से परिचित कराने में सहायता पहुँचाता है।

स्वभावगत संस्कार और मूल प्रवृत्तियों में अन्तर

हमारे स्वभावगत संस्कारों और मूल प्रवृत्तियों में विशेष अन्तर है। संस्कार से हमारा आशय यहाँ पर उस सहज पशु-प्रेरणा से है जिसे अँगरेज़ी में 'इन्स्टिंक्ट' (Instinct) कहते हैं। हमारे संस्कार हमें विशेष-विशेष अवसरों पर विशेष-विशेष रूपों में अंग-सञ्चालन अथवा कर्म-चेष्टा करने की सहज स्फूर्ति देते रहते हैं। यदि हम किसी भीड़ में खड़े हों और अकस्मात् दस-पाँच व्यक्तियों को घबराहट-भरे शब्दों में यह कहते सुनें कि "भागो! भागो!" तो हम सम्भवतः बिना यह पता लगाये कि मामला क्या है; तत्काल वहाँ से भाग निकलेंगे। यहाँ पर हमारे

भागने की क्रिया संस्कारगत है। जिस मूल प्रवृत्ति से अज्ञात में प्रेरित होकर हम भागना चाहेंगे वह है आत्मरक्षा की प्रवृत्ति। ख़तरे की आवाज़ सुनते ही हमारी आत्म-रक्षा की आशा जगी, और हमारे पशु-संस्कार ने बिना हमारी बुद्धि की सहायता के तत्काल यह निश्चय कर लिया कि किसी विशेष कर्म-चेष्टा द्वारा हम ऐसे अवसर पर आत्म-रक्षा कर सकते हैं।

मूल संस्कार बनाम बुद्धि

भय की आशंका से भाग खड़े होने का संस्कार पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से वर्तमान है। पर मनुष्य ने आत्म-चेतना और बुद्धि का इतना विकास कर लिया है कि सब समय वह मूल संस्कारों की प्रेरणा के अनुसार कार्य नहीं करता; बल्कि अपनी बुद्धि की सहायता लेकर कुछ परोक्ष उपायों से धीरता और स्थिरता के साथ अपनी किसी मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ करता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से किसी कारण से क्रुद्ध हो उठे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने पशु-संस्कार से प्रेरित होकर निश्चय ही उस व्यक्ति पर तत्काल शारीरिक रूप से आक्रमण कर बैठेगा। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से व्यक्ति क्रुद्ध होने पर अपने प्रतिपक्षी के साथ तत्काल मार-पीट पर उतारू हो जाते हैं। पर ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं पाई जाती, जो अपने क्रोध को शारीरिक आक्रमण का रूप न देकर, परोक्ष रूप से विपक्षी का अपमान करके, दूसरों की दृष्टि में उसे गिराने की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कला का उपयोग करके अपना बदला चुकाते हैं। क्रुद्ध होते ही उसी दम हाथापाई पर उतारू हो जाना सहज पशु-संस्कारगत क्रिया है और परोक्ष रूप से अपमानित करके बदला चुकाना बुद्धिगत। संस्कारगत कर्मचेष्टा स्वतः स्फूर्त और अन्ध होती है;

वह शिक्षा या अभ्यास से प्राप्त नहीं होती; बल्कि जन्मजात, सहज और स्वाभाविक होती है। हमारी प्रत्येक मूल प्रवृत्ति किसी मूल संस्कार से किसी न किसी रूप में सम्बंधित अवश्य रहती है, पर सभ्यता तथा संस्कृति ने हमें अपनी मूल प्रवृत्तियों की चरितार्थता के बहुत-से ऐसे उपाय सिखा दिये हैं जो मूल संस्कारों से भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिक्षा, तथा अपने विशेष वातावरण से प्राप्त अभ्यास के अनुसार अपनी मूल प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने की चेष्टा करता है। मूल प्रवृत्तियाँ सब में समान रूप से वर्तमान हैं; पर उनकी चरितार्थता के उपाय प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रवृत्तियाँ अपने-आपमें अच्छी या बुरी नहीं होतीं। यह प्रवृति अच्छी है और वह प्रवृति बुरी, ऐसा कहना अज्ञता का परिचायक है। अच्छाई और बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि कौन व्यक्ति किसी मूल प्रवृति की चरितार्थता के लिए कैसे उपायों का सहारा पकड़ता है।

किसी व्यक्ति के चरित्र में जब हम कोई बुराई पाते हैं, तो हमें यह जानने की चेष्टा करनी चाहिए कि वह अपनी जिन अतृप्त प्रवृत्तियों की चरितार्थता के लिए विकल है उनकी तुष्टि के लिए वह किन विकृत उपायों को काम में ला रहा है। यह जानने के बाद ऐसे उपायों को उसके सामने रखने का प्रयत्न करना चाहिए जो विकृत नहीं; बल्कि समुन्नत हों, जिनसे न केवल उसे आत्मसन्तोष प्राप्त हो; बल्कि जो समाज के लिए भी सामूहिक रूप से उपकारी सिद्ध हों।

मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण

हमारी मूल प्रवृत्तियों को साधारण तौर पर तेरह श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इन तेरह प्रवृत्तियों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, इस बात का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

१—शारीरिक सुख प्राप्त करना।

२—आत्मरक्षा।

३—अपने से अधिक बलशाली व्यक्ति को प्रसन्न रखना।

४—ख़तरे का आभास पाते ही भाग खड़ा होना।

५—अपनी ही जाति या समाज के दूसरे व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना, उनके द्वारा प्रशंसित होना और उनका प्रियपात्र बनना।

६—दूसरों पर आक्रमण करना अथवा अपनी धाक जमाना।

७—विपरीत 'सेक्स' के किसी व्यक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना।

८—किसी बच्चे अथवा प्रियजन की देखरेख अथवा रखवाली करना।

९—स्वजातीय व्यक्तियों के साथ एकता स्थापित करके समाज-बद्ध होना।

१०—अपने गुट या समाज के नेताओं का अनुकरण करना।

११—किसी को पकड़कर अपने अधीन करना।

१२—किसी गुप्त विषय का पता लगाना।

१३—पूर्व-परिचित व्यक्तियों, स्थानों तथा परिस्थितियों के बीच में फिर-फिर लौट चलने को उत्सुक रहना।

ऊपर जिन प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है, वे सभी व्यक्तियों में समान मात्रा में नहीं पाई जातीं। किस व्यक्ति में कौन प्रवृत्ति अधिक स्फूर्ति दिखाती है, इस बात का पता लगने

पर उसकी शैशवावस्था की विशेष परिस्थितियों का अनुमान किया जा सकता है। पर इतना निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति में किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक पूर्वोल्लिखित प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। इन सब प्रवृत्तियों को सुन्दर, समुन्नत रूप से चरितार्थ कर सकने पर ही हम सुखी हो सकते हैं।

हमारी प्रत्येक मूल प्रवृत्ति विभिन्न रूपों में विभिन्न उपायों द्वारा अपनी चरितार्थता के लिए प्रयत्न करती रहती है। इस प्रकरण में हम कुछ विशेष-विशेष प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का उल्लेख करेंगे।

ध्यान-आकर्षण की प्रवृत्ति

पहले दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा दूसरों की प्रशंसा प्राप्त करने की प्रवृत्ति को ही लीजिए। यह प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में तीव्र रूप में वर्तमान रहती है। रास्ते में चलते हुए यदि हम कुछ ऐसे व्यक्तियों से मिलें जो हमें जानते हैं, और वे व्यक्ति हमें देखकर भी हमारे प्रति उपेक्षा का भाव दिखायें, तो स्वभावतः हमें बहुत बुरा लगेगा। यदि कोई व्यक्ति दो-तीन बार हमसे मिल चुकने पर भी हमारा नाम भूल जाय या उसे तोड़-मरोड़ डाले, तो इस बात से जो कष्ट होगा उसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। किसी व्यक्ति से हम बातें कर रहे हों और वह उदासीनता से सुन रहा हो, तो इससे भी हमारे मन को स्वभावतः चोट पहुँचती है। इन सब बातों का मूल कारण हमारी वह मूल प्रवृत्ति है जो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए सब समय, ज्ञात या अज्ञात में, उत्सुक रहती है।

एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक का कहना है—"इससे बढ़कर दण्ड किसी मनुष्य के लिए दूसरा नहीं हो सकता कि समाज में

वह एकदम उपेक्षित रहे। किसी सभा या समिति में हमारे प्रवेश करने पर एक व्यक्ति भी हमारी ओर आँख उठाकर न देखे, हमारे बोलने पर कोई हमारी किसी बात का उत्तर न दे, हमारे किसी भी कार्य की ओर किसी का ध्यान न जाय; प्रत्येक व्यक्ति हमारे सम्बन्ध में ऐसा व्यवहार प्रदर्शित करे जैसे हमारा इस संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो निश्चय ही हमारी अन्तरात्मा अत्यन्त अशान्त और खिन्न हो उठेगी।

प्रशंसा-प्राप्ति की आकांक्षा

हम केवल इतना ही नहीं चाहते कि दूसरे व्यक्ति हमारी ओर ध्यान दें; बल्कि यह भी चाहते हैं कि वे हमारी प्रशंसा करते रहें। प्रत्येक व्यक्ति जो कोई भी कार्य करता है, उसके सम्बन्ध में वह जान में या अनजान में यह इच्छा रखता है कि दूसरे लोग उसे सराहें। वक्ता बिना श्रोताओं की प्रशंसात्मक तालियाँ सुने आगे बोलने का उत्साह नहीं पाता, संगीतज्ञ प्रत्येक बार सम में आने के बाद 'वाह-वाह' के नारे को आशा रखता है। प्रशंसा पाने की उत्सुकता प्रत्येक बच्चे में वर्तमान रहती है। प्रारंभ में बच्चा कभी रोकर, कभी चिल्लाकर दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए विकल रहता है; पर बाद में उसकी यही प्रवृत्ति विकास-प्राप्त होकर प्रशंसा-लोभिणी हो उठती है। यदि बच्चे की इस लालसा को उत्साह मिलता रहे, तो वह बढ़ती चली जाती है और उत्साह न मिलने पर बहुत-कुछ दब भी सकती है। यह प्रवृत्ति मनुष्य को बहुत महान् कार्यों के लिए भी प्रेरित कर सकती है और उसे ग़लत मार्ग दिखाकर जीवन की किसी अवस्था में अकस्मात् निराशा के भयंकर गढ़े में भी ढकेल सकती है। अपने-आप में यह प्रवृत्ति न अच्छी है न बुरी; सभी प्रवृत्तियों की तरह इसके सम्बन्ध में भी यही

कहा जा सकता है कि उसकी अच्छाई या बुराई उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूपों और उपायों पर निर्भर करती है।

प्रत्येक व्यक्ति विशेष रूप से अपने ही गुट या समाज के व्यक्तियों की प्रशंसा का इच्छुक अधिक रहता है। स्कूल का कोई भी छात्र अपने शिक्षकों की प्रशंसा की अपेक्षा अपने साथियों की प्रशंसा को अधिक मूल्य देना चाहेगा। कोई भी पेशेवर दुष्कर्मी समाज में सम्मानित व्यक्तियों की प्रशंसा की अपेक्षा दूसरे दुष्कर्मियों की सराहना को अधिक महत्त्व देगा। युद्ध का विरोध करनेवाला कोई सार्वजनिक व्यक्ति शान्तिवादियों की प्रशंसा से जितना प्रसन्न होगा, युद्धप्रेमियों की निन्दा से उतना दुःखी नहीं होगा। मद्यपान के विरुद्ध आन्दोलन चलानेवाले सुधारक शराब-विरोधी संस्थाओं अथवा व्यक्तियों की स्तुति प्राप्त करने पर उसे विशेष महत्त्वपूर्ण समझेगा, और जन-साधारण उसका विरोध भी करे, तो भी वह उस विरोध की विशेष परवा करना नहीं चाहेगा।

जो व्यक्ति हमारे जीवन की प्रायः सभी बातों की ओर प्रशंसात्मक दृष्टि से ध्यान देता रहता है, उसके प्रति हमारे मन में अज्ञात रूप से प्रेम का भाव उमड़ने लगता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप लोग अपने व्यक्तित्व को सुन्दर, आकर्षण-योग्य बनाने की चेष्टा करते रहते हैं। इसी की प्रेरणा से हम हॉकी, फुटबाल, टेनिस आदि खेलों में दूसरों से आगे बढ़ने को उत्सुक हो सकते हैं; अथवा पत्र-पत्रिकाओं में अपना छपा हुआ नाम देखने के लिए विकल होकर लेख आदि लिखने को प्रेरित हो सकते हैं; इसी प्रवृत्ति की अज्ञात प्रेरणा हमें धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र में नेता का पद पाने को उन्मुख कर सकती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि हम एक बहुत बढ़िया, ठाठदार, फ़ैशनेबुल मोटर ख़रीदकर दूसरों को अपने प्रति आकर्षित करना

चाहें, अथवा प्रत्येक व्यक्ति के आगे अपने शारीरिक, मानसिक तथा सांसारिक कष्टों का वर्णन करके हम अपनी इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करना चाहें।

क्रोध या आक्रोश

किसी क्रुद्ध व्यक्ति की तत्कालीन आकृति-प्रकृति, हाव-भाव और कर्म-चेष्टा पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि वह अज्ञात रूप से किसी पर आक्रमण करने की भावना से ग्रस्त हो उठा है। वह बड़ी तेज़ी से साँस लेता है, उसकी आँखें लाल हो उठती हैं और एक हिंसक पशु की तरह चमकने लगती हैं, वह दाँतों को पीसने लगता है, उसके दोनों हाथों की मुट्ठियाँ अपने आप बँध-सी जाती हैं, भौंहों पर बल पड़ जाते हैं, मुख तमतमा उठता है, सारा शरीर काँपता है और मारे क्रोध के जल उठता है। आशय यह कि ठीक वे ही लक्षण उस समय किसी मनुष्य में दिखाई देते हैं जो आक्रमण के लिए उद्यत किसी हिंसक जन्तु में, या युद्ध के लिए तत्पर किसी बर्बर योद्धा में। लड़ने का जो संस्कार मनुष्य के भीतर छिपा रहता है वह ऐसे अवसरों पर जाग पड़ता है। सभ्य मनुष्य अपने प्रतिपक्षी पर शारीरिक रूप से आक्रमण करने की प्रवृत्ति को चाहे कितना ही दबाने की चेष्टा करे, पर आदि युग से जो संस्कार उसके भीतर वर्तमान है वह उसके हाव-भाव और चेष्टाओं-द्वारा अपने को व्यक्त करके ही छोड़ता है। यही कारण है कि सभ्य से सभ्य व्यक्ति भी ऐसे क्षणों में बर्बर बन जाता है। लड़ने का मूल संस्कार क्रोध की भावना को उपजाता है और साथ ही हमारी एक विशेष मूल प्रवृत्ति को भी जन्म देता है, वह है—दूसरों पर आक्रमण करके उन्हें अपने अधीन करने, अपना दास बनाने की प्रवृत्ति।

शरीर तथा मन के भीतर जब प्रवेगपूर्ण शक्ति अतिरिक्त मात्रा में एकत्रित हो जाती है, तब वह बाहर निकलने के लिए विकल हो उठती है। इस अतिरिक्त शक्ति को किसी उपाय से मुक्त करने की विशेष आवश्यकता रहती है। क्रोध के आवेश में आकर हम जब किसी विशेष कर्म-चेष्टा-द्वारा उस अतिरिक्त शक्ति से छुटकारा पा लेते हैं, तब उससे हमारे शरीर और मन को विशेष लाभ होता है। इसलिए क्रोध को दबाना अच्छा नहीं है। उससे मुक्ति पाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि क्रोध आते ही या तो तेज़ चाल से टहलना चाहिए या बाग़ में जाकर कुछ खोदने-खादने का काम करना चाहिए।

क्रोध के आवेश में मनुष्य भयंकर से भयंकर काम कर बैठता है, इसके प्रमाण रात-दिन के जीवन में मिलते रहते हैं। जिस मनुष्य का क्रोधी स्वभाव बन जाता है, लोग उससे दूर रहना पसंद करते हैं। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोध की प्रवृत्ति अपने-आपमें बुरी नहीं कही जा सकती। इसलिए इस बात की चेष्टा की जानी चाहिए कि क्रोध की मूल प्रवृत्ति को समुन्नत रूप देने की आदत डाली जाय। यदि इस वृत्ति को हम समाज में होनेवाले अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करने के लिए काम में लायें, तो उससे व्यक्ति और समाज दोनों का हित होगा।

विद्वेष और घृणा

विद्वेष और क्रोध की वृत्तियाँ एक-दूसरे से बहुत-कुछ मिलती-जुलती सी हैं। अन्तर केवल यह है कि हमारा क्रोध किसी भी व्यक्ति के प्रति किसी भी अवसर पर उमड़ सकता है; पर घृणा या विद्वेष का भाव कुछ विशेष-विशेष व्यक्तियों के विरुद्ध दीर्घकाल तक हमारे मन में घर किये रहता है। जब हम क्रुद्ध होते हैं तो

किसी भी व्यक्ति पर उबल पड़ते हैं; पर विद्वेष के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती।

विद्वेष का भाव सहस्रों रूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है। यदि इसका नियन्त्रण सुचारु रूप से हो सके, तो यह व्यक्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्मों के लिए प्रेरित कर सकता है। इतिहास के पन्नों को उलटने से इस बात का पता चल सकता है कि विद्वेष के कारण व्यक्तियों ने ऐसे-ऐसे महत् कार्य किये हैं जो सामूहिक रूप से मानव-जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। पर साथ ही इस बात के भी अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं कि विद्वेष-वश होकर व्यक्तियों ने घोर अनर्थकारी काम किये हैं।

बड़े से बड़े पुरुषों में विद्वेष का भाव ज्ञात या अज्ञात में अपना चक्र चलाता रहता है। सार्वजनिक जीवन में बड़े-बड़े नेताओं में पारस्परिक प्रतियोगिता का जो भाव पाया जाता है उसके नीचे विद्वेष की वृत्ति किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान रहती है। यदि इस वृत्ति को समुन्नत रूप से विकसित किया जाय, तो इसकी प्रेरणा से उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण हो सकता है। अँगरेज़ी के बहुत से दुःखान्तमूलक नाटकों तथा उग्रभावापन्न काव्यों और उपन्यासों के मूल में यही वृत्ति पाई गई है। संसार के राजनीतिक क्षेत्र में तो सदा इस वृत्ति का बोलबाला रहा है। साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा राजनीतिक वाद-विवादों की उत्पत्ति बहुधा इसी वृत्ति की प्रेरणा से होती है, जिनसे समाज को सामूहिक रूप से लाभ होता है।

पर यदि विकृत उपायों द्वारा इस वृत्ति का विकास किया जाय, तो वह घोर अनर्थमूलक सिद्ध होती है। उससे व्यक्ति का जीवन विषमय बन जाता है और वह समाज में भी उस विष का प्रचार करता रहता है।

व्यक्तिगत और सामाजिक विद्वेष

व्यक्तिगत विद्वेष बहुधा सामाजिक रूप धारण कर लेता है। किसी समाज के किसी विशेष व्यक्ति के प्रति यदि हमारा विद्वेष हो, तो उस समाज के सम्बन्ध में हमारी धारणा विद्वेषपूर्ण हो उठती है। इसी प्रकार यदि हम सामूहिक रूप से किसी विशेष समाज या जाति के प्रति विरोधी-मनोवृत्ति रखते हों, तो उस समाज या जाति के किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में हमारी धारणा विद्वेषमूलक हो उठेगी, भले ही वह व्यक्ति आदर्श जीवन बिताता हो। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति के मन में बंगालियों के सम्बन्ध में विरोधी संस्कार वर्तमान हो, तो वह रवीन्द्रनाथ को कभी बड़ा कवि मानने को तैयार न होगा।

जिस व्यक्ति को हम चाहते हैं, उसकी मूर्खतापूर्ण बात का भी समर्थन करने को हम बहुधा तैयार हो जाते हैं। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के प्रति हम विद्वेष का भाव रखते हैं, साधारणतः उसकी किसी अच्छी से अच्छी बात का भी हम विरोध करने लगते हैं। कल्पना कीजिए कि कोई बच्चा अपने कठोर-प्रकृति और अत्याचारी पिता द्वारा शासित हुआ है, और इसी ज़ालिम पिता की देख-रेख में वह बड़ा हुआ है तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने पिता की ज़्यादतियों का विरोध नहीं कर सकता; पर परोक्ष रूप से, नाना छल-छद्मों द्वारा वह अपना विरोध प्रकट करता है, और पिता के विरुद्ध एक अव्यक्त भावना उसके भीतर घर करने लगती है। ऐसा बच्चा अपने परवर्ती जीवन में अपने पिता के समस्त आदर्शों के विपरीत कार्य करने लगता है और इस प्रकार वह अपने विद्वेष की वृत्ति को चरितार्थ करता है। यदि उसका पिता घोर धार्मिक रहा हो,

तो बच्चा घोर नास्तिक बन जाता है; यदि पिता बड़ा कञ्जूस रहा, तो लड़का घर फूँककर तमाशा देखने की मनोवृत्ति ग्रहण कर लेता है; यदि पिता पूँजीवादी रहा हो, तो लड़का साम्यवादी बन जाता है।

दूसरों की निन्दा करने में प्रत्येक व्यक्ति को कैसा स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है, इसका बड़ा अच्छा निदर्शन रवीन्द्रनाथ ने अपने एक 'विचित्र प्रबन्ध' में दिया है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का मूलोच्छेदन व्यक्ति के सामूहिक विकास के लिए घोर हानिकर सिद्ध हो सकता है। उसे किन उपायों से समुन्नत रूप दिया जा सकता है, इसकी चेष्टा होनी चाहिए।

विजयाकांक्षा की प्रवृत्ति

दूसरों पर विजय प्राप्त करने, रोब गाँठने और उन्हें अपने वश में करने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति के सिलसिले में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। इस प्रकरण में और अधिक विस्तृत रूप से तथा एक नये दृष्टिकोण से इस विषय को समझाने का प्रयत्न किया जायगा।

विजयाकांक्षा का जन्म लड़ने-कटने के मूल संस्कार से हुआ है, जो आदि-युग से मनुष्य के भीतर वर्तमान रहा है। पर उक्त संसार को सभ्य मनुष्य ने इतना अधिक सुसंस्कृत और विकसित कर लिया है कि वह आदि मानव की जङ्गली मनोवृत्ति से बहुत आगे बढ़ गया है। इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर सभ्य

मनुष्य सारे संसार पर आधिपत्य जमाने के उद्योग में भी रत हो सकता है, और यह भी सम्भव हो सकता है कि वह और कोई दूसरा उपाय न देखकर अपनी स्त्री, बाल-बच्चे अथवा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर दबाव डालकर ही रह जाय। स्कूली लड़कों में जो सबसे अधिक नम्बर पाने के उद्देश्य से पारस्परिक प्रतियोगिता पाई जाती है, उसके मूल में भी विजयाकांक्षा की प्रवृत्ति ही वर्तमान है; और जब हम किसी समाज अथवा संस्था का नेता बनने को उत्सुक हो उठते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ भी वही मूल वृत्ति काम कर रही है। वर्तमान सभ्य समाज में इस प्रवृत्ति की चरितार्थता असंख्य विचित्र रूपों में होती रहती है। कौन व्यक्ति किस रूप से इसकी तुष्टि करता है, यह बात उसकी बचपन की परिस्थितियों और सामाजिक सुविधाओं पर निर्भर करती है। कोई व्यक्ति कान्स्टेबुल या कोतवाल बनकर उसकी चरितार्थता कर लेता है, कोई इञ्जीनियर बनकर मशीनों का नियन्त्रण करके उसकी पूर्ति कर लेता है; कोई मोटर का एक साधारण ड्राइवर बनकर मोटर के इञ्जिन पर अपना प्रभुत्व जमाकर ही सन्तुष्ट रह जाता है। सम्पादक पाठकों के विचारों पर प्रभाव डालकर इसी वृत्ति की तुष्टि करता है और अध्यापक अपने विद्यार्थियों पर रोब गाँठकर। हॉकी, फुटबाल, टेनिस आदि खेलों में जो पारस्परिक प्रतियोगिता चलती है, वह भी मूलतः विजय प्राप्ति की मूल प्रवृत्ति से ही प्रेरित होती है। साधारण एक्केवान और ताँगेवाले पैदल चलनेवाले व्यक्तियों को जो समय-समय पर अकारण ही "हटो! बचो! ख़बरदार!" आदि शब्दों के प्रयोग से विचलित करते रहते हैं, उसका प्रधान कारण भी दूसरों पर धौंस जमाने की वही मूल भावना है। तात्पर्य यह कि विजयाकांक्षा साधारण से साधारण व्यक्ति से लेकर समाज के उच्च से उच्चतम व्यक्तियों

तक सब में समान रूप से वर्तमान रहती है, और विभिन्न रूपों में व्यक्त होती रहती है।

विजयाकांक्षा के विचित्र और विकृत निदर्शन

कभी-कभी यह प्रवृत्ति ऐसे विचित्र रूपों में अपने को व्यक्त करती है कि आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने एक लड़के के जीवन का उदाहरण दिया है। वह बड़ा बोदा था, न तो अपना पाठ ही ठीक तरह से याद कर पाता था और न खेलकूद में ही तेज़ था। उसके मा-बाप उसके प्रति असन्तोष और अवज्ञा का भाव प्रदर्शित करते थे। उसकी किसी भी बात की सुनवाई न तो उसके घर में होती थी न बाहर। उसके सहपाठी लड़के बात-बात में उसकी मूर्खता की हँसी उड़ाते रहते थे। कोई ऐसा उपाय उसे नहीं सूझता था जिसके द्वारा वह किसी रूप में अपने सहपाठियों पर अपना बड़प्पन प्रकट कर सके। पर अन्त में उसने अपनी एक विशेषता से सन्तोष प्राप्त कर लिया। वह स्कूल के सब लड़कों की अपेक्षा अधिक दूर तक थूक सकता था। थूकने की "कला" में सबसे बाज़ी मार सकने के कारण उसकी विजयाकांक्षा चरितार्थ हो गई!

यह बात किसी पिछले प्रकरण में कही जा चुकी है कि कुछ स्त्रियाँ सक्रिय रूप से इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने में सफल न हो सकने के कारण निष्क्रिय और विकृत रूपों से उसकी तुष्टि करती हैं। उदाहरण के लिए वे अपने शरीर में कोई रोग पाल लेती हैं, और उस रोग के फलस्वरूप वे घर के दूसरे व्यक्तियों पर धौंस जमाने में सफलता प्राप्त कर लेती हैं। उनके शारीरिक कष्ट के कारण चिन्तित होकर घर के लोग उनकी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

दूसरों की खिल्ली उड़ाने की भावना के अन्तर में भी विजयाकांक्षा की भावना छिपी रहती है। दूसरों का उपहास करके हम उन्हें सब की दृष्टि में हीन बनाने का प्रयत्न करके परोक्ष रूप से अपने को उनसे बड़ा प्रमाणित करते हैं और इस प्रकार अपने बड़प्पन की मनोवृत्ति को तुष्ट करते हैं।

बुद्धि-क्षेत्र में भी पूर्वोक्त मनोवृत्ति अपने को व्यक्त करती रहती है। कुछ लोग गणित के कठिन प्रश्नों को हल करते रहने में ही बड़प्पन का अनुभव करते हैं। साधारण-सी तुकबन्दियाँ लिखकर अपने को साधारण जनता से बहुत ऊपर—कवि लोक में—कल्पना करके अपने को स्वयं महान् समझकर आत्मसन्तोष प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों की कुछ कम संख्या संसार में नहीं पाई जाती।

जो लोग दूसरों से आर्थिक अथवा सामाजिक कारणों से दबे रहते हैं वे धार्मिक क्षेत्र में किसी विशेषता को अपनाकर अपने बड़प्पन की भावना को सन्तुष्ट कर लेते हैं। आज-कल हमारे समाज में कीर्तन का प्रचार बढ़ता चला जाता है। यदि जाँच करके देखा जाय, तो पता लगेगा कि इस प्रकार के धार्मिक उत्सवों में वे ही लोग अधिक भाग लेते हैं, जो दूसरे क्षेत्रों में समाज-द्वारा दबाये गये हैं और अपनी क्षीणता की अनुभूति से विशेष रूप से ग्रस्त हैं। धार्मिक क्षेत्र में दूसरों से आगे बढ़कर वे अपनी क्षतिपूर्ति करके दूसरों पर विजय प्राप्त करने की मूल प्रवृत्ति को बड़ी सरलता से चरितार्थ कर लेते हैं।

बहुत बोलने की आदत

जो लोग बहुत बोलते हैं, किसी समय भी चुप रहना पसन्द नहीं करते, उनके सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए कि वे कोरी

बातों के बल पर दूसरों पर अपनी धौंस ज़माना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति अधिकांशतः बात-बात में अपने बड़प्पन की डींग हाँकते रहते हैं, दूसरों की निन्दा करके उनकी तुलना में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे चाहे किसी विषय को लेकर चलें; पर अन्त में उसे आत्मचर्चा का रूप देकर ही छोड़ते हैं। "मैं वहाँ गया; वहाँ मैंने यह देखा और वह देखा; यह शेर मारा और वह बाघ मारा; ऐसे-ऐसे व्यक्तियों से मिला; एक व्यक्ति ने मुझसे यह बात कही, मैंने उसे कसकर वह उत्तर दिया।" आदि इसी प्रकार की बहुत-सी बातें वे कहते चले जाते हैं, और दूसरे किसी व्यक्ति को बोलने की सुविधा नहीं देना चाहते। अपने व्यक्तिगत जीवन की छोटी-से-छोटी बात को लेकर वे लम्बे-लम्बे दास्तान सुनाने लगते हैं, और दूसरों के जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सुनने के लिए न उन्हें तनिक अवकाश ही रहता है न इच्छा। ऐसे व्यक्ति घोर स्वार्थी और घोर दम्भी होते हैं। वे इस बात की तनिक भी परवा नहीं करते कि उनके श्रोतागण उनकी अहम्मन्यता-भरी बातों से उकताकर जम्हाइयाँ लेने लगे हैं। वे मशीन की तरह बोलते चले जाते हैं, और एक क्षण के लिए दम तक नहीं लेना चाहते—इस भय से कि कहीं कोई दूसरा उनके स्थान में बोलने न लग जाय। यह बात वे जानकर भी नहीं जानना चाहते कि दूसरों को भी बोलने का उतना ही अधिकार है, जितना उन्हें। और मज़ा यह कि ऐसे व्यक्तियों के आगे आप ज़रा भी यह संकेत कीजिए कि वे बड़े दम्भी हैं, तो वे आग-बबूला हो उठते हैं। कारण यह है कि उनमें जो दाम्भिकता वर्तमान है वह उनके अज्ञात में व्यक्त होती है। उनका सचेत मन वास्तव में यह नहीं जानता कि वे दम्भपूर्ण बातों की झड़ी लगाकर दूसरों पर धाक जमाने की मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ कर रहे हैं।

अपना-अपना राग

प्रत्येक व्यक्ति जिस विशेष विषय में दूसरों से कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है, उसी की महत्ता का डंका वह चारों ओर पीटता रहता है। यदि हम तगड़े और पहलवान हों, तो हम सब समय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसी बात का प्रचार करते रहेंगे कि विद्या-बुद्धि, धन और वैभव का संसार में कोई महत्त्व नहीं; यदि कोई बात महत्त्वपूर्ण है, तो वह है शारीरिक शक्ति। इसके विपरीत, यदि हमारी बुद्धि तीव्र हो और शरीर अस्वस्थ, तो हम निश्चित रूप से लोगों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करेंगे कि शारीरिक स्वास्थ्य गँवारों के गर्व करने का विषय है, वास्तव में महत्त्व तो बुद्धि का सबसे अधिक है। यदि हम अशिक्षित हों, और हों धनी, तो हम किसी-न-किसी रूप से यही प्रमाणित करना चाहेंगे कि शिक्षा प्राप्त करना बेकार है, धन का ही संसार में सबसे अधिक महत्त्व है—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।' इसके विपरीत यदि हम शिक्षा के क्षेत्र में डिगरीधारी हों, पर व्यापार के क्षेत्र में असफल, तो हम निश्चय ही उन लोगों को हीन बताना चाहेंगे जिन्होंने बिना विशेष शिक्षा प्राप्त किये व्यापार में सफलता प्राप्त की हो। साधारण रूप से यह बात देखने में आती है कि यदि हम किसी भी क्षेत्र में सफलता पा लेते हैं, तो लोगों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि सफलता अध्यवसाय, योग्यता और चरित्र-बल से प्राप्त होती है; और यदि हम जीवन में कहीं भी सफल न हो पाये, तो यह मत प्रकट करने के लिए उत्सुक रहते हैं कि सफलता भाग्य पर निर्भर करती है! तात्पर्य यह कि कोई भी व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न किये बिना नहीं रहता।

अंगूर खट्टे हैं !

"अंगूर खट्टे हैं !" इस कहावत से सभी पाठक परिचित होंगे। संसार के प्रत्येक व्यावहारिक क्षेत्र में यह लोकोक्ति चरितार्थ होती दिखाई देती है। कायर बहुधा नीति की दुहाई देकर साहसी व्यक्ति के साहस की निन्दा करता है। दुर्बल व्यक्ति सबल की शारीरिक शक्ति को पशु-शक्ति कहकर आत्मसन्तोष प्राप्त कर लेता है। जो स्त्रियाँ अपने अन्तस्तल में नाचने की इच्छा रखती हैं; पर किसी सामाजिक या व्यक्तिगत कारण से नाच नहीं पातीं, वे नाचनेवाली शिक्षिता स्त्रियों को निर्लज्ज कहकर उनकी निन्दा किया करती हैं। आलसी मनुष्य इस सिद्धान्त के प्रचार-द्वारा अपनी विशेषता का प्रमाण दूसरों को देना चाहता है कि परिश्रम करना गँवारों का काम है। जिन व्यक्तियों की आँखें सिनेमा के चित्रों के देखने से दुखने लगती हैं, वे यह प्रचारित करने लगते हैं कि फ़िल्मों को देखने जाना पैसों को व्यर्थ नष्ट करना है; क्योंकि उनमें अश्लील नाच-गानों के सिवा कला की और कोई विशेषता नहीं रहती है ! इन सब दृष्टान्तों से यह प्रमाणित होता है कि विवश होने पर भी मनुष्य अपनी महत्ता प्रमाणित करने से बाज़ नहीं आता; बल्कि उस विवशता को ही महत्ता का चिह्न बतलाने लगता है !

दूसरों पर अपनी धाक जमाने और अपना बड़प्पन प्रदर्शित करने की जो मूल प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान है, वह अपने-आप में बुरी या भली कुछ भी नहीं है। यदि इस प्रवृत्ति को समुन्नत उपायों-द्वारा चरितार्थ किया जा सके तो व्यक्ति और समाज दोनों लाभान्वित होते हैं, नहीं तो इसके विकृत प्रदर्शन से बहुत-सी हानियाँ स्वभावतः उठानी पड़ती हैं।

दलवृत्ति और सामाजिकता

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। किसी-न-किसी समाज के भीतर दलबद्ध रहने का संस्कार उसके स्वभाव के मूल में वर्तमान है। इस विषय में गिरोहों में रहनेवाले पशुओं से उसकी प्रकृति मिलती है। कुत्ते, हिरन, हाथी आदि इसी कोटि के पशु हैं। बिल्लियों और बाघों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। वे कभी दलबद्ध होकर नहीं रहते।

सभी व्यक्तियों में सामाजिकता का संस्कार समान रूप से वर्तमान नहीं रहता। यह बात प्रत्येक व्यक्ति के बचपन की परिस्थितियों पर निर्भर करती है कि सामाजिकता की ओर उसका झुकाव कम होगा या अधिक। जिस व्यक्ति में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से तीव्र होती है वह कभी एकाकी जीवन में सुख प्राप्त नहीं कर सकता। वह निश्चित रूप से अपने सुख-दुःख की अनुभूतियों का साक्षी कुछ ऐसे व्यक्तियों को बनाना चाहेगा जो सह-अनुभूति के साथ उन्हें ग्रहण कर सकें। ऐसा व्यक्ति यदि प्रकृति-प्रेमी भी हो, तो वह अकेले में कभी प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग नहीं कर सकता। उसे साथ में कुछ ऐसे व्यक्ति चाहिए जो उसकी सौन्दर्य-भावना का रस ठीक उसी प्रकार ग्रहण कर सकें जिस रूप में वह करता है।

अकेलेपन की भयंकरता

निपट अकेलेपन की अपेक्षा कभी-कभी किसी ऐसे व्यक्ति का साहचर्य भी अच्छा मालूम होता है, जो सब विषयों में हमसे विभिन्न रुचि रखता हो। जो लोग कालकोठरियों में वर्षों तक बिना किसी मानव-प्राणी के संसर्ग के रह चुके हैं, वे इस बात के महत्त्व को भली-भाँति महसूस कर सकते हैं। पर साधारण

रूप से हम कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों से ही हिलमिल सकते हैं, जिनसे हमारी रुचियाँ और अनुभूतियाँ मेल खाती हों। यदि समानुभाव व्यक्ति हमें प्राप्त न हो सकें, तो हम लाखों मनुष्यों की भीड़ के बीच में भी अपने को अकेला महसूस कर सकते हैं। संसार में कुछ ऐसे विचित्र प्रतिभाशाली अथवा पागल व्यक्ति भी होते हैं जो सारे संसार में अपने को जीवन-भर अकेला महसूस करते रहते हैं। कारण यह है कि उन्हें ऐसे व्यक्ति नहीं मिलते जो उनकी भावनाओं को ठीक तरह से समझ सकें। अनेक प्रतिष्ठित कवियों तथा धार्मिक नेताओं के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। ऐसे मनीषी यद्यपि भक्त-जनों से सब समय घिरे रहते हैं, तथापि वे एक क्षण के लिए भी यह सोच नहीं पाते कि वे अकेले नहीं हैं; बल्कि समाज के बीच में हैं। हम किसी पिछले प्रकरण में कह चुके हैं कि जो व्यक्ति समाज तथा संसार के साथ अपने व्यक्तित्व का सामञ्जस्य स्थापित करने में अपने को असमर्थ समझता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; वह चाहे कितना ही महान् कलाकार या मनीषी क्यों न हो, मानव-समाज से विच्छिन्न रहने के कारण निखिल शून्य अपने कराल जबड़े खोलकर उसके सारे व्यक्तित्व को निगल जाने के लिए सब समय उद्यत रहेगा। कारण यही है कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। सभ्यता और संस्कृति के उलटे-सीधे फेर से भले ही कोई मनुष्य एकाकी जीवन बिताकर एकान्त साधना के चक्कर में पड़ जाय; पर उसे जीवन में कभी शान्ति नहीं मिल सकती, यह ध्रुव निश्चित है। इसीलिए महात्मा बुद्ध जंगल छोड़कर भागे थे और जनता के बीच में आकर मानव-धर्म प्रचार करने लगे थे। भगवान् कृष्ण ने इसी कारण अर्जुन को जनता के बीच में रहकर कर्मयोग-साधन की शिक्षा दी है।

यदि मनुष्य-जाति बिल्लियों और बाघों की तरह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर रहने का संस्कार अपने भीतर पाती तो आज हम अपने को उक्त पशुओं की तरह ही निपट असभ्य और हिंस्र अवस्था में पाते। मानव-समाज अन्यान्य प्राणियों की अपेक्षा जो इतनी अधिक उन्नति कर सका है इसके बहुत से कारणों में से एक प्रधान कारण यह भी है कि उसके भीतर प्रारम्भ से ही सामाजिकता की प्रवृत्ति वर्तमान रही है। पारस्परिक सहयोग की भावना ज्यों-ज्यों मनुष्य में बढ़ती चली गई त्यों-त्यों वह अधिकाधिक उन्नति करता चला गया।

सामाजिकता का क्रम-विकास

आदि युग के मनुष्य दल बाँधकर रहते थे। एक-एक गिरोह अलग-अलग रहता था। प्रारंभ में सभी गिरोह एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। पर धीरे-धीरे विभिन्न गिरोहों का आपस में समझौता होता चला गया और उनमें सहयोग की भावना भी बढ़ती गई। फल यह हुआ कि एक ओर मनुष्य के मन में आदि-मानव का अपने ही विशिष्ट दल के भीतर बद्ध रहने का संस्कार जड़ पकड़े रहा, और दूसरी ओर दूसरे गिरोहों से मिलकर सहयोग के क्षेत्र को विस्तृत करने की प्रवृत्ति ज़ोर मारती गई। आज तक हम मनुष्य-समाज के भीतर इन्हीं दो विशेषताओं को साथ-साथ पाते हैं। एक ओर वह अपने संकीर्ण अथवा विस्तृत दल के भीतर बद्ध रहकर अपने को सुरक्षित समझता है, दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीयता की भावना उसमें जग उठी है।

पर यदि व्यक्तिगत रूप से देखा जाय, तो अपने जान या अनजान में आज भी प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने गिरोह के भीतर बन्द रहने की प्रवृत्ति का परिचय ही अधिक देता है। यहाँ पर 'गिरोह' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना होगा। किसी

उदार-चरित व्यक्ति का गिरोह एक समस्त राष्ट्र हो सकता है, किसी का गिरोह एक सम्प्रदाय तक ही सीमित रह सकता है, किसी का एक साधारण राजनीतिक, साहित्यिक अथवा वैज्ञानिक गुट के भीतर ही समाप्त हो सकता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किसी गिरोह या गुट के भीतर रहने से ही किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह उस गिरोह या गुट से सम्बन्धित है। असली बात है उसके अन्तर की भावना की। जिस गिरोह या गुट के भीतर वह रहता है, उसका सामूहिक रूप से अपमान होने पर यदि वह भड़क उठे, तो कहना चाहिए कि वह व्यक्ति निश्चित रूप से उस गिरोह से सम्बन्धित है। साधारण रूप से प्रत्येक व्यक्ति में गुटबन्दी या दलबन्दी की भावना निहित रहती है। यह प्रवृत्ति पूर्णतः स्वाभाविक है और यदि इसे अत्यन्त संकीर्ण तथा विकृत रूप न दिया जाय, तो वह सर्वथा कल्याणकारी सिद्ध होती है।

यदि हम किसी व्यक्ति को किसी समाज-विरोधी गुट से सम्बन्धित देखकर उसे उस विशेष गुट से छुड़ाना चाहें, तो हमें यह चेष्टा करनी होगी कि वह किसी ऐसे गुट से सम्बन्ध स्थापित करे जिससे समाज के हित की आशा की जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी दल में अवश्य सम्मिलित होना पड़ता है, चाहे वह दल डाकुओं का हो चाहे सन्तों का। डाकुओं के दल से उसे अलग करने के प्रयत्न में हमें उसे सन्तों के दल में सम्मिलित होने का प्रलोभन देना होगा। दलहीन व्यक्ति जीवन में कभी सुख और सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता, यह ध्रुव निश्चित है।

मनुष्य की अनुकरणप्रियता

मनुष्य स्वभावतः अनुकरणशील होता है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से अपनी प्रत्येक गति-विधि, विचार और आदर्श का

विश्लेषण करें, तो इस बात का पता सहज में लग जायगा कि अपने जिस व्यक्तित्व को हम स्वतन्त्र रूप से अपना समझते हैं उसका अधिकांश भाग वास्तव में दूसरों से लिये गये तत्त्वों और भावों का संग्रह-मात्र है।

हमारी अनुकरण-प्रियता बचपन से ही आरम्भ हो जाती है। यदि हम एक छोटे-से-छोटे बच्चे की ओर देखकर मुस्करायें, तो वह भी हमारी उस मुसकान का अनुकरण करके ठीक उसी तरह मुस्कराने लगता है। दूसरे बच्चों या सयानों की भाषा के शब्दों को पकड़-पकड़कर मानव-शिशु अपनी भाषा का निर्माण करता है। अपने साथियों तथा माता-पिता का अनुकरण करते-करते वह विशेष-विशेष प्रकार की आदतें डाल लेता है, जो बाद में उसकी 'अपनी' कही जाती हैं। छोटी-से-छोटी बात से लेकर बड़ी-से-बड़ी बात तक वह जानकर या अनजान में अपने आस-पास के व्यक्तियों से ग्रहण करता चला जाता है, जिसका स्थायी प्रभाव उसके परवर्ती जीवन में पड़ जाता है। साहस और भय, आशा और निराशा, उत्साह और विषाद, प्रत्येक प्रकार की मनोवृत्ति बच्चा दूसरों से आहरण करता है। जिस-जिस प्रकार की वृत्ति की प्रधानता उसके आस-पास के व्यक्तियों में रहेगी, उसका स्थायी प्रभाव उसके मन पर अंकित हो जायगा। बच्चे केवल वास्तविक जीवन के व्यक्तियों का ही अनुकरण नहीं करते, बल्कि कथा-जगत् के पात्र-पात्रियों का अनुकरण करने को भी उत्सुक रहते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत रहने की आवश्यकता रहती है कि बच्चों को किस प्रकार की कहानियाँ सुनाई जायँ, जिनका प्रभाव उनके परवर्ती जीवन में हितकारी सिद्ध हो।

दलबद्धता की मनोवृत्ति अनुकरण-प्रियता से विशेष सम्बन्ध रखती है। दूसरों के साथ समानुभावता का सम्बन्ध स्थापित

करने का तात्पर्य यह है कि हम या तो उन्हें अपने ही समान बनने, अपनी प्रत्येक बात का अनुकरण करने को विवश करें, या स्वयं दल के अन्य व्यक्तियों की मनोभावनाओं को अपनालें। यही कारण है कि जब हम किसी दल या भीड़ के बीच में रहते हैं, तो तत्काल के लिए अपनी स्वतन्त्र बुद्धि को ताक में रख देते हैं और अपने अनजान में प्रत्येक विषय में भीड़ में सम्मिलित दूसरे व्यक्तियों का अनुकरण करने लगते हैं। हमारी निजी अनुभूतियाँ भीड़ की सामूहिक अनुभूतियों के साथ मिलकर एकाकार हो जाती हैं और भीड़ का एक भी प्रभावशाली व्यक्ति यदि किसी भी उत्कट अथवा मूर्खतापूर्ण कार्य में हमारा सहयोग चाहता है, तो संकेतमात्र से हम पूर्ण उत्साह के साथ उस काम में हाथ बटाने के लिए उद्यत हो उठते हैं। यह बात प्रायः देखी जाती है कि जब किसी सभा या समाज में कोई व्यक्ति किसी बात पर आत्मविश्वास के साथ ताली बजाता है, तो भीड़ के अधिकांश व्यक्ति तत्काल, बिना कुछ सोच-विचार किये तालियाँ बजाने लग जाते हैं। यदि मुस्लिम-लीग की किसी सभा में सम्मिलित मुसलमान-जनता के बीच में कोई हिन्दू कुछ ऊटपटांग बात कह बैठे, और एक मुसलमान उठकर उसे एक तमाचा जड़ दे, तो सारी जनता की मनोभावना उस हिन्दू के विरुद्ध भड़क उठेगी। यही बात हिन्दू-सभा के बीच बेतुकी बात कहनेवाले किसी मुसलमान के सम्बन्ध में लागू हो सकती है। संसार के बड़े-बड़े राजनीतिक नेता जन-साधारण की सामूहिक मनोवृत्ति और पारस्परिक अनुकरणप्रियता की प्रवृत्ति से परिचित होकर अपनी-अपनी कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से उससे बहुत लाभ उठाते हैं।

'फ़ैशन' और अनुकरण-प्रियता

दलबद्धता और अनुकरण-प्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण 'फ़ैशन' के क्षेत्र में मिलता है। जिस प्रकार की वेश-भूषा का चलन

लोकप्रिय हो जाता है, समाज के अधिकांश व्यक्ति बिना कुछ सोच-विचार किये उसे आँख मूँदकर अपनाने लगते हैं।

कुछ विशेष प्रकार के व्यक्ति अपनी अहंकारपूर्ण मनोवृत्ति के कारण यह भाव प्रकट करने लगते हैं कि वे सब समय अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कार्य करते हैं, जनसाधारण की मनोभावना की बहक में आकर नहीं। पर यदि आप इस प्रकार के स्वतन्त्र-विचारशील व्यक्ति से यह कहें कि वह जनसाधारण की परवा न करने का प्रमाण देने के लिए कुर्ते के नीचे धोती या पाजामे के स्थान पर पेटीकोट पहनकर बाहर निकले, तो वह कभी राज़ी न होगा। राज़ी न होने का कारण वह चाहे कुछ बताये; पर यह बात स्पष्ट है कि मूल कारण है जन-साधारण की हँसी का भय। जनता की हँसी से लोग इसलिए इतना घबराते हैं कि वे अपने अनजान में किसी विशेष दल, समूह या समाज से सम्बन्धित रहते हैं। हम जिस समाज के बीच में रहते हैं, जानकर या अनजान में उसके सामूहिक मनोभाव तथा प्रचलित फ़ैशन के अनुरूप चलने का प्रयत्न करते रहते हैं। पंजाबियों के बीच में रहकर बङ्गालियों की पोशाक पहनने में हमें स्वभावतः कुछ झिझक-सी मालूम होगी। यही कारण है कि बहुत से कट्टर खद्दरधारियों को योरप में सूट-बूट और 'हैट' पहनते देखा गया है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने विशेष दल की रीति-नीति सहज और स्वाभाविक लगती है, और दूसरे दलों की बहुत सी रीतियाँ उसे विचित्र और हास्यास्पद जान पड़ती हैं। पर यदि वही व्यक्ति किसी दूसरे दल में चला जाता है, तो वहाँ के रीति-रस्मों को वह बड़ी शीघ्रता से अपना लेता है और वे उसे सुन्दर और स्वाभाविक जान पड़ने लगते हैं।

लोकाचार के पालन का महत्त्व लोग बराबर मानते चले आये

हैं। लोक विरुद्ध कार्य केवल सामाजिक दृष्टि से ही नहीं; बल्कि नैतिक दृष्टि से भी निन्दनीय माना जाता है। असल बात यह है कि हम किसी कार्य को इसलिए नहीं करते कि वह लोकाचार है; बल्कि उस कार्य का लोकसम्मत होना अज्ञात रूप से हमारे मन में यह धारणा जमा देता है कि वह नैतिक दृष्टि से उचित है। यदि सच पूछा जाय तो हमारे नैतिक नियम लोकमत के सिवा और कुछ हैं भी नहीं।

दलवृत्ति के हितकर और हानिकर रूप

पहले ही कहा जा चुका है कि जब हम किसी भीड़ के बीच में रहते हैं, तो तत्काल के लिए हमारी स्वतन्त्र अनुभूतियां की कोई सत्ता नहीं रह जाती। वे भीड़ की सामूहिक अनुभूतियों का एक अंग बन जाती हैं। यह प्रवृत्ति कभी-कभी सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद भी होती है और कभी घोर हानिकर भी सिद्ध होती है। शत्रुसैन्य जब राष्ट्र पर चढ़ाई करे, उस समय यदि जनता की सामूहिक मनोवृत्ति साहसपूर्वक शत्रु का सामना करने की बन जाय, तो उससे राष्ट्र का बड़ा भारी हित हो सकता है; पर यदि उस समय जनता में आतंक की भावना भर दी जाय तो उसका परिणाम उसी प्रकार अनर्थकारी हो सकता है, जैसा वर्तमान महायुद्ध में फ्रांस पर जर्मनों के आक्रमण से हुआ। जनता की सामूहिक मनोवृत्ति जिस समय एकरूप हो जाती है उस समय किसी बात का प्रभाव समस्त जनमण्डली पर बिजली की तेज़ी के साथ समान रूप से पड़ता है।

कभी-कभी हमारी दलवृत्ति अत्यन्त हास्यास्पद रूप धारण कर लेती है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर एक सच्ची घटना का उदाहरण दिया जाता है, जिसका उल्लेख एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने किया है। एक बार एक स्टीमर खचाखच भरा था। एक स्कूली लड़के को बैठने के लिए एक 'सीट' भी ख़ाली

न मिली। पर उसने यह निश्चय कर लिया था कि अपने लिए वह किसी-न-किसी उपाय से एक 'सीट' अवश्य प्राप्त करेगा। कुछ सोचकर वह जहाज़ के एक किनारे पर खड़ा हुआ और सामने क्षितिज की ओर एकटक दृष्टि से देखने लगा। सहसा वह चिल्ला उठा—"वह देखो ह्वेल मछली!" यह सुनते ही चारों ओर से लोग अपने-अपने स्थानों से उठ-उठकर ह्वेल मछली को देखने के लिए एकत्रित होने लगे। सबकी आँखें अदृश्य ह्वेल की खोज में लगी हुई थीं और वे व्यस्तभाव से आपस में बातें करते हुए एक-दूसरे से यह जानने की उत्सुकता प्रकट कर रहे थे कि वास्तव में ह्वेल मछली है कहाँ पर? पर वह कहीं हो तब तो! लड़के ने सब को धोखा देकर अपने लिए एक के बजाय कई 'सीटें' ख़ाली करवा ली थीं। वह आराम से बैठकर तमाशा देख रहा था और मन-ही-मन लोगों की मूर्खता पर हँस रहा था। पर जब बहुत देर हो गई, और लोग फिर भी ह्वेल को देखने की आशा में समुद्र की ओर मुँह किये खड़े रहे तो वह लड़का न रह सका और स्वयं भी उस काल्पनिक ह्वेल को देखने की उत्सुकता से भीड़ में जाकर शामिल हो गया।

दलवृत्ति स्वाभाविक होने पर भी उसके वश में होकर मनुष्य से भेड़ बन जाना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। दलवृत्ति अथवा सामाजिक मनोवृत्ति की चरितार्थता मनुष्य के लिए परम आवश्यक है। पर चूँकि मनुष्य निरा पशु नहीं है, उसमें आत्मचेतना और बुद्धि के तत्त्व वर्तमान हैं, इसलिए उसे चाहिए कि वह अपनी सामाजिकता की प्रवृत्ति की तुष्टि अन्धभाव से प्रेरित होकर न करे; बल्कि सामूहिक कल्याण की भावना को अपना लक्ष्य बनाकर बुद्धि के प्रयोग से उसे सुन्दर और उन्नत रूप देने का प्रयत्न करता रहे।

हमें उपन्यास क्यों प्रिय लगते हैं ?

मनुष्य की कल्पनाप्रियता का कारण हम पिछले किसी प्रकरण बता चुके हैं। वह यह कि वास्तविक जगत् में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों की चरितार्थता में बहुत-कुछ अंशों में असफल रहने के कारण वह कल्पना-द्वारा उस क्षति की पूर्ति करने के लिए उत्सुक रहता है । जाग्रत अवस्था के स्वप्नों में प्रत्यक्ष रूप से, और निद्रित अवस्था के स्वप्नों में परोक्ष रूप से हम कल्पना का सहयोग प्राप्त करके अपनी अतृप्त आकांक्षा की तुष्टि करते रहते हैं। उपन्यासों और कहानियों को लोग जो इतने चाव से पढ़ते हैं उसका भी कारण यही है। सिनेमा देखने का जो शौक़ लोगों में पाया जाता है, उसका भी सम्बन्ध इसी मूल कारण से है।

कथा-नायक के साथ एकानुभूति

जब हम किसी कथा-पुस्तक में अथवा सिनेमा के किसी चित्र में विशेष दिलचस्पी लेते हैं, तब उस समय हम उस पुस्तक अथवा उस चित्र के नायक के व्यक्तित्व के साथ अपने व्यक्तित्व को कल्पना-द्वारा मिला देते हैं। नायक की प्रत्येक अनुभूति हमारी निजी अनुभूति बन जाती है। यदि हम किसी छात्र को किसी लोमहर्षक घटनाओं से पूर्ण उपन्यास में तल्लीन देखें, तो हमें निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि वह छात्र अपने को तत्काल के लिए एक साधारण विद्यार्थी न समझकर उक्त उपन्यास के साहसी नायक के स्थान में अपने को रख रहा है और उसके प्रत्येक अनुभव अपना अनुभव समझ रहा है । उसे उस समय ऐसा जान पड़ता है, जैसे कथा का नायक नहीं; बल्कि वह स्वयं प्रत्येक रोमाञ्चकारी घटना के चक्कर में पड़ता चला जाता है। यही

बात प्रत्येक उपन्यास-प्रेमी पाठक तथा सिनेमा-प्रेमी दर्शक के सम्बन्ध में लागू होती है। हम उसी उपन्यास को पढ़ने अथवा उसी फ़िल्म को देखने में तल्लीन हो सकते हैं जिनके किसी पात्र के व्यक्तित्व के साथ हम अपने व्यक्तित्व को एक रूप में मिलाते हुए जानकर या अनजान में उसकी प्रत्येक अनुभूति को अपनी ही अनुभूति समझते हैं।

कल्पना-द्वारा अभावों की पूर्ति

अब प्रश्न यह उठता है कि हम क्यों किसी कथा-पुस्तक के नायक अथवा किसी दूसरे पात्र से अपने व्यक्तित्व को एकरूप में मिला देते हैं ? इसका उत्तर वही है जो पहले दिया जा चुका है। हमारे भीतर बहुत-सी ऐसी आकांक्षायें और वासनायें दबी पड़ी रहती हैं जिन्हें हम वास्तविक जीवन में चरितार्थ नहीं कर पाते। अपने जीवन के उन महत्त्वपूर्ण अभावों की पूर्ति हम कथालोक में करना चाहते हैं।

स्कूलों अथवा कॉलेजों के छात्रों को बहुधा घटनाचक्रपूर्ण उपन्यासों में निमग्न पाया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लड़का वास्तविक जीवन में अपने अज्ञात में अपनी क्षीणता तथा असमर्थता की अनुभूति से ग्रस्त रहता है, और उस क्षति की पूर्ति कल्पना-लोक में काल्पनिक शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त करके करता है। वास्तविक जगत् में उसे पग-पग पर पारिवारिक शासन और सामाजिक बन्धन पीड़ित किये रहते हैं। घटना-चक्रपूर्ण उपन्यासों के काल्पनिक संसार में वह उन सब बन्धनों से अपने को मुक्त पाता है और कथा का नायक स्वयं अपने को समझकर अपनी विजयाकांक्षा को चरितार्थ कर लेता है।

हमारी परस्पर-विरोधी अकांक्षायें

मनुष्य की आकांक्षायें बड़ी विचित्र और बहुधा परस्पर

विरोधी होती हैं। फल यह होता है कि यदि किसी उपाय से हम एक आकांक्षा की पूर्ति कर लें, तो तत्काल उससे एकदम उलटी एक दूसरी आकांक्षा प्रबल रूप से हमारे मन में जाग पड़ती है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार की दो विरोधी प्रवृत्तियों को एक साथ चरितार्थ कर सकना स्वभावतः असम्भव है। उदाहरण के लिए एक ओर हमारे भीतर आत्मरक्षा की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। हम चाहते हैं कि हम चाहे कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, सुरक्षित अवश्य रहें। दूसरी ओर हम निर्द्वन्द्व होकर दुस्साहस-पूर्ण कार्यों में भाग लेना चाहते हैं। पर "दुइ न होहिं इक संग भुआलू, हँसब ठठाइ फुलाँउब गालू!" इसलिए इस जटिल समस्या का समाधान हम एक विचित्र रूप से करते हैं। वास्तविक जीवन में हम अपने को सुरक्षित अवस्था में रखने का प्रयत्न करते हैं, और कथा-कहानियों के काल्पनिक संसार में हम अपने को निर्द्वन्द्व अवस्था में मुक्त विचरण के लिए छोड़ देते हैं और अपनी दुस्साहसपूर्ण महत्त्वाकांक्षा को चरितार्थ करते हैं।

हास्यपूर्ण फ़िल्म

बहुधा हम निर्द्वन्द्व और उच्छृंखल हास्य से पूर्ण फ़िल्मों में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। केवल बच्चे ही नहीं, बड़े-बूढ़े भी उनका उपभोग करते हैं। इसका कारण क्या है? हमारे जो गुरुजन हमें रात-दिन संयम और गाम्भीर्य का पाठ पढ़ाते रहते हैं उन्हें इस प्रकार के चित्रों में क्या रस मिलता है? बात यह है कि सभ्य समाज के कड़े नियमों के शासन से हम अपने स्वभाव को कैसा ही गंभीर बनाने में समर्थ क्यों न हों; पर हमारे भीतर जो उद्दण्ड-स्वभाव आदि-मानव वर्तमान है वह समय-समय पर अपने सब सामाजिक बन्धनों को तोड़कर उच्छृंखल बनने के लिए बेचैन हो उठता है। अपनी इस दबी हुई प्रवृत्ति की तुष्टि वह

हास्यपूर्ण फ़िल्मों को देखकर कर लेता है। इस उपाय से जब उसकी दबाई गई आकांक्षाओं को मुक्ति का द्वार मिल जाता है, तब उसका चित्त बहुत-कुछ हलका हो जाता है। हमारे यहाँ होली के अवसर पर जो सामाजिक स्वतन्त्रता लोगों को दी जाती है, उसका भी मूल उद्देश्य यही रहा है कि सभ्य मनुष्य कम-से-कम वर्ष में एक दिन के लिए सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाकर अपनी दबी हुई उच्छृंखल प्रवृत्ति को चरितार्थ कर सके और इस प्रकार अपने मनोविकारों से किसी अंश में छुटकारा पा जाय। किसी प्रहसनात्मक फ़िल्म का नायक अपने उद्दण्ड कार्यों और उच्छृंखल चेष्टाओं से हमें इसलिए गुदगुदाता है कि हम उसके व्यक्तित्व से अपने व्यक्तित्व को एकरूप में मिलाकर उसके द्वारा अपनी निर्द्वन्द्व मनोवृत्तियों को चरितार्थ हुआ पाते हैं। ऐसे फ़िल्म का नायक वही काम करता है जैसा हम अपने अज्ञात में करना चाहते हैं; पर सभ्य समाज के नैतिक बन्धनों के दबाव से कर नहीं पाते। जब हम देखते हैं कि वह बड़े 'शानदार' व्यक्तियों की पगड़ियाँ उछाल रहा है, सुन्दरी युवतियों के प्रति निस्संकोच भाव से अपना प्रेम प्रकट कर रहा है, किसी का दबाव नहीं मानता, बच्चों की बेतकल्लुफ़ी के साथ सुरक्षित और संजोई हुई चीज़ों को उठाकर इधर-उधर पटककर तहस-नहस करता चला जाता है, जिस चीज़ की आवश्यकता समझता है उसे निर्भय होकर झपटकर ले लेता है, तब हमें ठीक वैसी ही प्रसन्नता होती है जैसी बच्चों को। क्योंकि मनुष्य अवस्था की दृष्टि से चाहे कैसा ही वृद्ध क्यों न हो जाय, उसके अन्तस्तल में सब समय आदिकाल के शिशु का मनोभाव छिपा रहता है।

चूँकि कथा-कहानियों तथा सिनेमा के चित्रों द्वारा हम वास्तविक जीवन के अभावों की पूर्ति करते हैं, इसलिए यह बात मालूम होने पर कि कौन व्यक्ति किस प्रकार की कहानियों,

उपन्यासों तथा फ़िल्मों में अधिक दिलचस्पी लेता है, उसके जीवन के गुप्त अभावों का पता सहज में लगाया जा सकता है।

अपनी-अपनी रुचि के उपन्यास

प्रतिदिन के साधारण जीवन की एकरसता से प्रायः सभी लोग उकता जाते हैं और ज्ञात में या अज्ञात में विचित्र घटना-चक्रपूर्ण जीवन के लिए उत्सुक रहते हैं। यही कारण है कि अधिकांश व्यक्ति घटनाचक्रपूर्ण अथवा 'रोमान्टिक' कथाओं में इतनी अधिक दिलचस्पी लेते हैं। अपने-अपने जीवन के अभावों के अनुसार उपन्यासों के सम्बन्ध में लोगों की रुचि में विभिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके मन में समाज में उच्च स्थान प्राप्त करने की आकांक्षा प्रबल रहती है, और जिन्हें वास्तविक जीवन में अपनी इस इच्छा को चरितार्थ करने की सुविधा प्राप्त नहीं होती। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः इस प्रकार की कहानियों में अधिक दिलचस्पी लेंगे जिनमें सम्भ्रान्तवंशीय और धनी परिवारों के व्यक्तियों के वैचित्र्यपूर्ण जीवन का चित्रण किया गया हो। बहुत-से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी प्रबल प्रेमाकांक्षा वास्तविक जीवन में अतृप्त रह जाती है। ऐसे व्यक्ति निश्चय ही ऐसी कहानियों तथा उपन्यासों को पसन्द करेंगे जिनमें नायक-नायिका के प्रेमपूर्ण जीवन का सजीव चित्रण किया गया हो। 'रोमान्टिक' उपन्यासों के चुनाव के सम्बन्ध में भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचित्र रुचि रखता है। प्रत्येक 'रोमान्स'-प्रेमी पुरुष ऐसे उपन्यास को अधिक पसन्द करेगा जिसकी नायिका उसके काल्पनिक आदर्श के अनुरूप हो। उसी प्रकार प्रत्येक कल्पनाप्रिय स्त्री ऐसे उपन्यास के पाठ से अधिक सुख प्राप्त करेगी जिसका नायक उसके मन के आदर्श से मिलता-जुलता हो। अपने आदर्श की कल्पना भी

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के अभावों के अनुसार करता है। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति ने बचपन में माता का स्नेह न पाया हो, वह ऐसी स्त्री को आदर्श प्रेमिका या आदर्श पत्नी समझेगा, जिसके स्वभाव में मातृभाव अधिक प्रबल हो, और जो पतिरूप में उसका आदर-सत्कार करते हुए उसे एक बच्चे की तरह दुलरा भी सके। उसी प्रकार जो स्त्री बचपन में पिता के स्नेह से वञ्चित रही हो, वह ऐसे पुरुष को आदर्श प्रेमी या आदर्श पति समझेगी जो उसके पत्नीत्व के विशेष अधिकारों को पूर्ण रूप से मानते हुए उसे ऐसा स्नेह भी दे सके, जिसका उपभोग वह छुटपन में नहीं कर पाई।

चार प्रकार की आकांक्षायें

चार विशेष प्रकार की आकांक्षायें मानवमन में सबसे अधिक प्रबल होती हैं। उन्हीं आकांक्षाओं की काल्पनिक पूर्ति के लिए लोग उपन्यास और कहानियाँ पढ़ते हैं और सिनेमा के फ़िल्म देखते हैं, क्योंकि वास्तविक जीवन में अधिकांश व्यक्ति उन्हें चरितार्थ करने में असफल होते हैं। वे चार आकांक्षायें इस प्रकार हैं—

(१) वैचित्र्यपूर्ण प्रेम की आकांक्षा;

(२) धन और पुरुषार्थ की आकांक्षा;

(३) सम्मान-योग्य और आकर्षण का केन्द्र बनने की आकांक्षा;

(४) रहस्य और रोमाञ्च का रस प्राप्त करने की आकांक्षा।

वे ही उपन्यास, कहानियाँ और फ़िल्म अधिक लोकप्रिय होते हैं जिनके द्वारा लोग पूर्वोक्त चार प्रकार की आकांक्षाओं की काल्पनिक तुष्टि कर सकते हैं।

इस प्रकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यासों को पढ़ने और सिनेमा के चित्रों को देखने की प्रवृत्ति बुरी नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है। पर यदि हम ऐसे उपन्यासों के पढ़ने और ऐसे चित्रों को देखने की आदत डालें जो हमारी अतृप्त आकांक्षाओं की काल्पनिक चरितार्थता के साथ ही हमें जीवन की मार्मिकता और वास्तविकता से परिचित कराके एक उन्नत आदर्श हमारे आगे रखने में समर्थ हों, तो उससे हमें सब प्रकार से लाभ होगा।

हमारी विभिन्न रुचियाँ

प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में अपनी निजी रुचियाँ रखता है। उसकी रुचियों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव उसके चरित्र पर पड़ता है। पर यदि यह बात जाननी हो कि कोई व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में विशेष रुचि क्यों रखता है, तो उसके विगत जीवन के अनुभवों का पता लगाना होगा।

प्रिय तथा अप्रिय स्मृतियाँ

हम उसी व्यक्ति या वस्तु को विशेष रूप से चाहते हैं जिसके संसर्ग से हमारे अन्तस्तल में विगत जीवन की कोई प्रिय स्मृति अज्ञात रूप से उभड़ने लगती है; और वह व्यक्ति या विषय हमें अप्रिय लगता है जो हमारे पिछले जीवन की किसी अप्रिय स्मृति से किसी भी रूप में सम्बन्धित रहता है।

उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति किसी स्त्री को चाहता है। जिस दिन प्रथम बार उस स्त्री के प्रति उसके मन में प्रेम का भाव उमड़ पड़ा, उस विशेष दिन जिस रंग की साड़ी वह स्त्री पहने रही होगी वह रंग अज्ञात रूप से सदा के लिए उसका प्रिय बन जायगा। कल्पना कीजिए कि उस दिन वह नीले रंग की साड़ी पहने थी। तब से वह व्यक्ति अपने अनजान में नीले रंग के फूलों को अधिक पसन्द करने लगेगा, आकाश की नीलिमा उसका मन विशेष रूप से मोहने लगेगी, नीले रंग के वस्त्र के प्रति उसकी रुचि अधिक आकर्षित होगी। तात्पर्य यह कि उस रंग का उसके मन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। पर स्मरण रहे कि यह रुचि अज्ञात रूप से उसके भीतर अपना अधिकार जमायेगी। क्योंकि उस व्यक्ति से यदि आप यह पूछें कि नीले रंग को वह विशेष रूप से क्यों पसन्द करता है, तो वह कोई निश्चित कारण नहीं बता सकेगा।

कुछ व्यक्तियों का प्रिय रंग वह होता है जो उन्हें अज्ञात अपने बचपन के दिनों की याद दिलाता हो। बहुत छुटपन में यदि कोई व्यक्ति अपनी मा को किसी विशेष रंग के वस्त्र पहने हुए देखने का आदी रहा हो, तो वह सम्भवतः परवर्ती जीवन में उसी विशेष रंग के प्रति अधिक आकर्षित होगा।

प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष राग या रागिनी से अधिक मुग्ध होता है। इसका कारण उस राग या रागिनी की विशेषता नहीं, बल्कि पिछले जीवन की किसी सुखकर अनुभूति से उसका सम्बन्ध समझना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति ने कोई राग ऐसे अवसर पर सुना हो जब उसका चित्त किसी कारण से बहुत प्रसन्न रहा हो, तो सम्भवतः वह राग अज्ञात रूप से उसे सदा के लिए मुग्ध करता रहेगा।

कलकत्ता सुन्दर है या बम्बई !

लोग बहुधा अपनी विभिन्न रुचियों के सम्बन्ध में वाद-विवाद किया करते हैं। कभी-कभी इस प्रकार का विवाद बड़ा उत्तेजक रूप धारण कर लेता है, और दोनों पक्षों में से कोई भी दूसरे को अपनी विशेष रुचि से प्रभावित नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए दो व्यक्ति इस विषय पर विवाद करते हैं कि बम्बई अच्छा शहर है या कलकत्ता। एक की यह राय है कि बम्बई बहुत सुन्दर है, वहाँ के दृश्य बहुत सुन्दर हैं, वहाँ के निवासी बड़े शिष्ट होते हैं, आदि-आदि। दूसरा व्यक्ति बड़ी तीव्रता के साथ यह प्रमाणित करने लगता है कि कलकत्ते के समान सुन्दर स्थान भारत में दूसरा नहीं है; वहाँ की संस्कृति, वहाँ के दृश्य, वहाँ के लोग सब प्रकार से प्रशंसा के योग्य हैं। पर कोई भी दूसरे की बात मानने को तैयार नहीं होता। वास्तव में तय यह होता है कि जो बम्बई की प्रशंसा के पुल बाँधता है, निश्चय ही बम्बई में उसे बहुत-से प्रिय अनुभव हुए होंगे, और जो व्यक्ति कलकत्ते का गुणगान करता है उसने वहाँ बड़े अच्छे दिन बिताये होंगे।

हमारे व्यक्तिगत अनुभवों की प्रियता अथवा अप्रियता के कारण ही किसी व्यक्ति या विषय के सम्बन्ध में हमारे मन में अनुकूल अथवा प्रतिकूल संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं। बहुधा यह देखने में आता है कि किसी विशेष समाज या सम्प्रदाय के एक व्यक्ति के सम्बन्ध से कटु अनुभव प्राप्त होने पर हम अज्ञात रूप से उस सारे समाज अथवा सम्प्रदाय के विरोधी हो उठते हैं। यदि किसी मद्रासी से हमें धोखा मिला हो, तो अपने अनजान में हम सारी मद्रासी जाति से घृणा करने लगते हैं। उसी प्रकार यदि किसी विशेष आकृति-प्रकृति के व्यक्ति के संसर्ग से हमें दुःख प्राप्त हुआ हो, तो जितने भी व्यक्तियों की आकृति-प्रकृति उससे मिलती-

जुलती होगी उन सबके प्रति हमारे मन में विद्वेष की भावना जम जायगी।

यदि बचपन में हमारे साथ हमारे माता-पिता का व्यवहार सन्तोष-जनक रहा हो, तो हम अपने अनजान में प्रायः सभी विषयों में वैसी रुचि रक्खेंगे, जैसी उनकी रही होगी। यदि माता से हमें अधिक स्नेह मिला हो, तो हम उसकी रुचि को अपनावेंगे, और यदि पिता की ममता अधिक रही हो, तो हम अपने अनजान में उनके विचारों, रुचियों तथा आदर्शों के अनुसार चलेंगे। इसके विपरीत, यदि बचपन में हमारे माता-पिता ने हमारे प्रति उपेक्षा दिखाई हो, और उनके व्यवहार से हमें दुःख प्राप्त हुआ हो, तो निश्चय ही परवर्ती जीवन में हम उनकी रुचियों और आदर्शों के विरोधी हो उठेंगे।

यहूदी-विद्वेषी हिटलर

हिटलर आज यहूदी जाति का ऐसा कट्टर शत्रु इसलिए बन गया है कि अपने प्रारम्भिक-जीवन में उसे एक यहूदी परिवार के यहाँ किसी विशेष कारण से अपमानित होना पड़ा। हमारे एक मित्र हैं जिनका योरप-प्रवास-काल में किसी फ्रेञ्च युवती से प्रेम हो गया था। अब वह प्रत्येक विषय में सारी फ्रेञ्च जाति के कट्टर प्रशंसक बन गये हैं। "फ्रेञ्च लोगों के समान शिष्ट और सहृदय दूसरी किसी जाति के लोग नहीं होते, फ्रान्स से बढ़कर सुन्दर दूसरा कोई देश नहीं है, फ्रेञ्च भाषा के समान मधुर दूसरी कोई भाषा नहीं है।" आदि इसी प्रकार की बातें उनके मुँह से प्रायः सुनने में आती हैं।

यदि बचपन में किसी चिपटी नाकवाली स्त्री ने हमें डराया, धमकाया या पीटा हो, तो परवर्ती जीवन में किसी भी चिपटी नाकवाली स्त्री को देखते ही हम आतंकित हो उठेंगे। इसी प्रकार

यदि छुटपन में किसी कोमल भाषी व्यक्ति का स्नेह हमने पाया हो, तो हम अपने अनजान में बाद में सभी कोमल-भाषी व्यक्तियों की सभी बातों का आदर करने को सब समय तत्पर रहेंगे, भले ही इस प्रकार के किसी व्यक्ति का उद्देश्य हमें लूटने का हो।

यदि हमें अपनी किसी विशेष रुचि की विचित्रता से स्वयं आश्चर्य हो, तो हमें अपने पिछले जीवन के विश्लेषण से इस बात का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए कि सर्व प्रथम कब और कैसे हमारे मन में उस विशेष रुचि का बीज बोया गया। यदि हम अपनी स्मृति को इस उद्देश्य की ओर केन्द्रित करें, तो बहुत सम्भव है हमें अपने बहुत-से ऐसे विरोधी संस्कारों का कारण मालूम हो जायगा, जो हमारे लिए जीवन में हानिकर सिद्ध हो रहे हैं। मूल कारण मालूम होने से उन संस्कारों को हम सहज में अपने भीतर से हटा सकते हैं।

संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व

हमारी विविध आकांक्षायें तथा मनोभावनायें बहुधा परस्पर-विरोधी रूप धारण कर लेती हैं और उनमें पारस्परिक संघर्ष चलने लगता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप हमें दुःख और अशान्ति का सामना करना पड़ता है। किसी विशेष अवसर पर हमारे भीतर एक विशेष प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करने की इच्छा जाग पड़ती है, पर साथ ही मन के किसी अज्ञात कोने से एक दूसरी प्रवृत्ति जाग पड़ती है, जो बिलकुल दूसरे ढङ्ग से चलने के लिए हमें उसकाती है। हम असमञ्जस में पड़

जाते हैं। यही असमञ्जस हमारे भीतर की दो परस्पर-विरोधी भावनाओं के संघर्ष की सूचना हमें देता है। एक ओर हम धन सञ्चय करने की इच्छा रक्खें, और दूसरी ओर भगवान् से मिलने की वेदना हमारे मन में जगे; दोनों भावनायें परस्पर-विरोधी होने से आपस में मेल नहीं खा सकतीं। फल यह होता है कि दोनों हमें अपनी-अपनी ओर खींचने की चेष्टा करती हुई हमारे मन को लेकर रस्साकशी करने लगती हैं। यही मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व है। इस प्रकार का द्वन्द्व हमारे जीवन को अत्यन्त अस्थिर और अशान्त बना देता है।

साधारण जीवन के अन्तर्द्वन्द्व

कुछ अन्तर्द्वन्द्व ऐसे होते हैं जो बहुत साधारण-सी बात को लेकर उठ खड़े होते हैं, और शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे विराट् होते हैं जो हमारे सारे जीवन-चक्र पर अपना प्रभाव डाले रहते हैं और हमें सदा के लिए असुखी, अस्वस्थ और असमर्थ बना देते हैं।

तुच्छ विषयों को लेकर प्रतिदिन के जीवन में जो अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं, उनका एक उदाहरण दिया जाता है। कल्पना कीजिए कि आपको आम का अचार बहुत पसन्द है, पर उस विशेष अचार को खाने से आपके शरीर को कष्ट पहुँचता है। निश्चय ही ऐसे बहुत-से अवसर आवेंगे जब आपके मन में यह असमञ्जस उत्पन्न होगा कि आम का अचार खाया जाय या नहीं ? यदि आपमें रसलिप्सा अधिक होगी, तो आप क्षणिक असमञ्जस के बाद अचार को खाने लगेंगे, और यदि चरित्र-बल अधिक होगा तो आप नहीं खावेंगे। पर हर हालत में आप अशान्त रहेंगे। यदि खावेंगे, तो शारीरिक कष्ट की आशंका से ग्रस्त रहेंगे, नहीं खावेंगे तो अतृप्त रसाकांक्षा आपको विकल करती रहेगी।

सचाई और ईमानदारी के प्रति श्रद्धा की जो भावना सभ्य समाज ने हमारे मन में जमा दी है, हमारे पार्थिव जीवन में उसका संघर्ष बहुधा स्वार्थ की हीन मनोवृत्ति से होता रहता है। एक ओर हम सचाई का सम्मान करते हैं, दूसरी ओर छलपूर्ण उपायों-द्वारा अपनी किसी आकांक्षा की पूर्ति करना चाहते हैं। निश्चय ही इन दो परस्पर-विरोधी भावनाओं में संघर्ष होगा। इसी प्रकार हमारी सामाजिक मनोवृत्ति (या दलवृत्ति) हमें एक प्रकार के व्यवहार के लिए प्रेरित करती है, और हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्र चेतना हमें दूसरे प्रकार के व्यवहार का परामर्श देती है। स्वभावतः इन दो विरुद्ध भावनाओं में द्वन्द्व मचने लगता है। युद्ध में लड़नेवाले सिपाहियों को एक ओर कर्त्तव्य और नियमों के पालन की शिक्षा मैदान में डटे रहने का मंत्र देती रहती है, दूसरी ओर साधारण पशु-प्रवृत्ति भागकर अपने प्राण बचाने के लिए उसकाती रहती है। यह भी एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व है।

अपने प्रतिदिन के जीवन में हम कुछ ऐसे व्यक्तियों से सामाजिक कारणों से मिलते रहते हैं जिनसे हम वास्तव में घृणा करते हैं। समय-समय पर यह प्रवृत्ति हमारे भीतर जग उठती है कि ऐसे व्यक्तियों के आगे उनके सम्बन्ध में अपने मन की भावना को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दें। पर तत्काल यह भावना भी ज़ोर मारने लगती है कि क्यों झगड़ा मोल लिया जाय और एक तमाशा खड़ा किया जाय!

मान लिया जाय कि किसी एक व्यक्ति के मन में आत्म-सम्मान की भावना बहुत प्रबल है, साथ ही एक काफ़ी बड़े परिवार का भार भी उसके ऊपर है। अब यदि ऐसे व्यक्ति को इस बेकारी के ज़माने में किसी ऐसे स्थान में नौकरी करनी पड़े, जहाँ उसके आत्म-सम्मान की रक्षा नहीं हो सकती,

तो निश्चय ही उसके मन में यह द्वन्द्व मचेगा कि नौकरी छोड़कर आत्म-सम्मान की रक्षा करके परिवार को भूखों मरने दिया जाय, या आत्म-सम्मान की भावना को ताक में रखकर परिवार के व्यक्तियों के भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध करे और अपने कर्तव्य का पालन करे !

हमारी महत्त्वाकांक्षाओं के साथ हमारे सांसारिक स्वार्थों का संघर्ष समय-समय पर चलता रहता है। हमारे पारिवारिक स्वार्थ हमें अपनी ओर खींचते हैं और किसी सार्वजनिक क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने की आकांक्षा अपनी ओर। दोनों प्रवृत्तियों को हम एक साथ समान रूप से सन्तुष्ट नहीं कर सकते। आजकल की शिक्षिता महिलाओं में इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व बहुधा चलता रहता है। एक ओर उनके भीतर घर-गृहस्थी के काम-धन्धों में लगे रहने, पति की सेवा और बालबच्चों की देखरेख करने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है, दूसरी ओर सामाजिक अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में आकर्षण का केन्द्र बने रहने तथा प्रसिद्धि पाने की भावना ज़ोर मारती है। चूँकि ये दोनों भावनायें एक दूसरे से मेल नहीं खातीं, इसलिए उन महिलाओं के भीतर जो द्वन्द्व चलता है, वह उन्हें अशान्त और अस्थिर बनाये रहता है।

हमारे दो व्यक्तित्व

हमारे भीतर कम से कम दो व्यक्तित्व वर्तमान रहते हैं। एक व्यक्तित्व हमें उस युग की निर्द्वन्द्वता और उच्छृङ्खलता की ओर खींचता है जब मनुष्य एकदम जंगली था और पशुओं के समान जीवन बिताया करता था; दूसरा व्यक्तित्व हमें सभ्य समाज के कड़े नियमों को मानकर चलने के लिए बाध्य करता है। पर ये दो मूल व्यक्तित्व अपने को नाना रूपों में विभक्त करके अपनी संख्या बढ़ा लेते हैं। यही कारण है कि हम अपने भीतर बहुधा

अनेक व्यक्तित्वों का संघर्ष पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या संसार में कुछ कम न मिलेगी जो सुन्दर भी बनना चाहते हैं और मोटा भी, पहलवान भी बनना चाहते हैं और साथ ही कवियश भी प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं; शराब पीकर वेश्यालयों में जाना पसन्द करते हैं, साथ ही दार्शनिक भी बने रहना चाहते हैं; जो राजनीतिक और धार्मिक, साहित्यिक और करोड़पति, षड्यन्त्रकारी और महात्मा एक साथ बनने की आकांक्षा रखते हैं। पर इस तरह की भावनायें अधिकांशतः परस्पर विरोधी होती हैं। फल यह होता है कि ऐसे व्यक्ति न एक रूप में अपने को जमा पाते हैं, न किसी दूसरे रूप में स्थिर रहते हैं।

अन्तर्द्वन्द्व का दुष्परिणाम

हमारे भीतरी संघर्ष का एक विशेष परिणाम यह देखने में आता है कि वह हमारी समस्त मानसिक शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट और अस्तव्यस्त कर देता है। इसके फलस्वरूप हम किसी भी विषय पर स्थिरता तथा धीरता के साथ विचार करने योग्य नहीं रह जाते। हमें चिन्ता, मनन और कर्मचेष्टा के लिए जिस सक्रिय-शक्ति की आवश्यकता रहती है, वह हमारे मन के घरेलू युद्ध के बीच समझौता करने की चेष्टा में नष्ट हो जाती है। इसलिए बाह्य संसार के बीच हम निर्जीव और निस्तेज अवस्था में पड़े रहते हैं। संसार हमारे बाहरी रूप से हमें जानता है, इसलिए वह हमें स्वभाव से ही शक्तिहीन समझता है। उसे इस बात की खबर नहीं रहती कि हमारे भीतर कैसी भयंकर तूफ़ानी शक्तियाँ एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए लड़ रही हैं और हमारी इच्छाशक्ति उन दोनों शक्तियों के संघर्ष को टालने की चेष्टा में समाप्त होती जाती है।

मुक्ति का उपाय

अंतर्द्वन्द्व से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यह है कि हमारी जिन-जिन प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता है उनकी जड़ें खोदकर उनके मूल स्वरूपों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किया जाय; उसके बाद उन मूल प्रवृत्तियों को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया जाय जिससे वे परस्पर-विरोधी न बनकर एक-दूसरे की पूर्ति में सहायक सिद्ध हों। उदाहरण के लिए, कल्पना की जाय कि हमारी एक प्रवृत्ति हमें राजनीति की ओर आकर्षित करती है, और दूसरी धार्मिकता की ओर। राजनीति का जो आदर्श वर्तमान संसार ने हमारे सामने रक्खा है, वह धोखेबाज़ी, कूटचक्र, मिथ्यावादिता, तथा संकीर्ण स्वार्थ की हीन मनोवृत्ति से इस घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है जो धार्मिकता की भावना के मूलतः विरुद्ध है। इसलिए इन दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष हमारे भीतर निश्चय ही भयंकर रूप धारण कर लेगा, और हमें चैन नहीं लेने देगा। पर यदि हम राजनीति के सम्बन्ध में अपना आदर्श ही एकदम बदल डालें, और महात्मा गांधी की तरह अपनी प्रत्येक राजनीतिक चाल को सच्चे धर्म्म की कसौटी पर कसकर जनता के सामने रखने का प्रयत्न करें, तो फल यह होगा कि हम उन दोनों विभिन्न प्रवृत्तियों को एक साथ चरितार्थ कर सकेंगे, और फिर कोई संघर्ष हमारे भीतर नहीं रह जायगा।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि कोई भी मूल प्रवृत्ति अपने-आप में न तो अच्छी है न बुरी; न प्रशंसनीय है न निन्दनीय। अच्छाई और बुराई जो कुछ है, वह किसी मूल प्रवृत्ति की चरितार्थता के ढंग पर निर्भर करती है। इसलिए जब कोई भी मूल प्रवृत्ति अपनी चरितार्थता के लिए भीतर से ज़ोर मारती है, तो उसे निन्दनीय समझकर दबाने की चेष्टा कदापि नहीं

करनी चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति को हमें किसी-न-किसी रूप में चरितार्थ अवश्य करना होगा। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि किस प्रवृत्ति को किस रूप से तुष्ट किया जाय। यदि हम यह देखें कि जिन उपायों से हम अपनी विभिन्न आकांक्षाओं की पूर्ति कर रहे हैं उनसे भीतर का संघर्ष बढ़ रहा है, तो हमें शीघ्र ही उन उपायों में परिवर्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयोग करते-करते हम अन्त में निश्चय ही अपनी मूल वृत्तियों की तुष्टि के ऐसे उपाय खोज निकालेंगे जिनसे हमारा अन्तर्द्वन्द्व विभिन्न प्रवृत्तियों के पारस्परिक सहयोग के कारण सामञ्जस्य प्राप्त कर लेगा।

चरित्र-निर्माण

प्रत्येक व्यक्ति में सुख की—अर्थात् अपनी मूल प्रवृत्तियों की—पूर्ण चरितार्थता की आकांक्षा समान रूप से वर्तमान रहती है। सुख प्राप्ति के उद्देश्य से व्यक्ति अपने शैशव-काल में जानकर या अनजान में जिन विशेष-विशेष उपायों को काम में लाता है, जिस प्रकार के व्यवहार को अपनाता है, उसी से उसके चरित्र के मूल आधार का निर्माण होता है। उन विशेष उपायों को काम में लाने और उस विशेष प्रकार के व्यवहार को अपनाने से निश्चय ही शिशु को लाभ हुआ होगा, उसकी इच्छाओं की पूर्ति हुई होगी। पर यह आवश्यक नहीं है कि जो उपाय शैशव-काल में हमारे लिए लाभकारी सिद्ध हुए हैं वे परवर्ती जीवन में भी उपयोगी होंगे। बल्कि बहुधा इससे एकदम उलटी बात देखने में आती है। पर चूँकि बचपन में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हम ज्ञात या अज्ञात में जो आदतें डाल चुके हैं वे

हमारी प्रकृति में अपनी जड़ें जमा चुकी हैं, इसलिए उनसे तभी छुटकारा पाया जा सकता है, जब हम अपने बचपन के जीवन का विश्लेषण ठीक तरह से कर सकें।

रोनेवाले बच्चे का स्वभाव-गठन

कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति बचपन में बात-बात में रोया-चिल्लाया करता था। इससे यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित समझ लेना चाहिए कि शैशव-काल में उस व्यक्ति की परिस्थितियाँ इस प्रकार की रही होंगी कि बिना रोये-चिल्लाये उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए रोने-चिल्लाने की आदत डालकर शैशवावस्था में उस व्यक्ति ने लाभ उठाया। पर चूँकि बचपन में एक बार किसी बात की आदत पड़ जाने से फिर उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है, इसलिए निश्चय ही परवर्ती जीवन में भी वह आदत किसी-न-किसी रूप से उस व्यक्ति में वर्तमान रहेगी। वह अब भले ही बच्चे की तरह रोता-चिल्लाता न हो, पर बात-बात में अपने को असमर्थ और असहाय बनाकर सब के निकट अपने वास्तविक अथवा काल्पनिक दुःखों का वर्णन करता हुआ सब समय राँड़ का-सा चर्खा चलाता रहेगा। बचपन में उसने रोने-चिल्लाने से लाभ अवश्य उठाया, पर अब सब समय अपना दुखड़ा रोते रहने के अभ्यास के कारण समाज निश्चय ही उसे घृणा की दृष्टि से देखेगा। धीरे-धीरे समाज से विच्छिन्न होकर वह एकाकी जीवन बिताने को बाध्य होगा और संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अपना शत्रु समझने लगेगा। स्वभावतः उसका जीवन घोर दुःखमय बन जायगा।

कम बोलनेवाला बच्चा

एक और उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि किसी एक व्यक्ति को बचपन में बहुत कम बोलने की आदत पड़ गई

थी। निश्चय ही उस बच्चे के माता-पिता का शासन बहुत कड़ा रहा होगा, और बच्चे ने अपने अनजान में यह अनुभव कर लिया होगा कि ऐसे मा-बाप के आगे अधिक बोलने से वे असन्तुष्ट होंगे और फलतः उसे हानि पहुँचेगी और कम बोलने से उसे अपेक्षाकृत लाभ होगा। इस सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं रहनी चाहिए कि निश्चय ही उस बच्चे को कम बोलने से लाभ हुआ होगा। अब सम्भावना इसी बात की अधिक है कि परवर्ती जीवन में भी उक्त व्यक्ति कम बोलने की आदत से लाचार रहेगा। शैशव-काल की विशेष परिस्थिति में इस आदत से उसे भले ही लाभ हुआ हो, पर अब उसका यह मौन रहने का अभ्यास उसे समाज के बीच में सम्भवतः उपेक्षणीय और तुच्छ बना देगा। किसी से ठीक तरह से बात न कर सकने के कारण उसे कोई नहीं पूछेगा, और वह अकेलेपन की अनुभूति से पीड़ित होकर मनोविकार-ग्रस्त बन जायगा।

यदि छुटपन में सचाई का अभ्यास डालने से दुःख पाने की सम्भावना हो, तो शिशु कभी उसे नहीं अपनावेगा, और फलतः परवर्ती जीवन में भी वह झूठा और बेईमान बना रहेगा। पर यदि माता-पिता अपने समुचित शिक्षा तथा उपयुक्त व्यवहार से बच्चे के मन में यह विश्वास जमा सकें कि सच बोलने से उसे अवश्य ही (उसके निजी आदर्श के अनुरूप) सुख प्राप्त होगा, तो वह निश्चय सच बोलने का अभ्यास पकड़ लेगा। यह अभ्यास उसके परवर्ती जीवन में विशिष्टता प्राप्त कर लेगा, भले ही उसके कारण उसे हानि उठानी पड़े।

यदि माता-पिता अपने व्यवहार से बच्चे के मन में यह विश्वास जमा दें कि अच्छे अभ्यास डालने से उसे लाभ होगा और सुख मिलेगा और बुरी आदतें पकड़ने से उसे हानि उठानी

पड़ेगी, तो बच्चा निश्चय ही अपनी आदतें सुधार लेगा, और उसके चरित्र-गठन का आधार सुन्दर और उन्नत बन जायगा।

स्वभाव-वैचित्र्य के कारण

प्रारंभ में दो नन्हें-से बच्चों के स्वभाव में मूलतः कोई भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती; पर शीघ्र ही अत्यन्त साधारण रूप से भिन्न अनुभवों के कारण दोनों के जीवन-पथ बदल सकते हैं! जीवन का भिन्न-भिन्न मार्ग ग्रहण करने के समय दोनों के बीच में भले ही कुछ ही गज़ों का अन्तर हो, पर धीरे-धीरे वह अन्तर बढ़ते-बढ़ते व्यापक रूप धारण कर सकता है।

कल्पना कीजिए कि दो बच्चे समान रूप से रोनेवाले हैं; पर एक बच्चे के रोने के सम्बन्ध में उसके मा-बाप इतने अधिक चिन्तित रहते हैं कि तत्काल उसकी आकांक्षा की पूर्ति करने लगते हैं, और दूसरे बच्चे के रोने पर बिलकुल ध्यान ही नहीं दिया जाता। जिस रोनेवाले बच्चे की आकांक्षा की पूर्ति तत्काल कर दी जाती है, परवर्ती जीवन में उसका स्वभाव कैसा बन जायगा, इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अब दूसरे बच्चे का दृष्टान्त लीजिए। वह बच्चा जब धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगेगा कि उसके रोने की कोई परवा नहीं करता, और इस उपाय से उसकी कोई भी आकांक्षा चारितार्थ नहीं हो पाती, तो वह निश्चय ही अपने अनजान में अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कोई दूसरा उपाय काम में लावेगा। उदाहरण के लिए, उसे यह अनुभव हो सकता है कि मुसकराने अथवा किलकने से उसके माता-पिता उसकी ओर ध्यान देते हैं, और उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इस अनुभव से, धीरे-धीरे वह मुसकराने और किलकने का अभ्यास पकड़ लेगा। बस, इसी एक छोटे-से अनुभव के कारण दोनों बच्चों की जीवन-यात्रा की दिशायें मूलतः बदल

जाती हैं। मुसकरानेवाला बच्चा परवर्ती जीवन में चिड़चिड़ेपन से कोसों दूर रहेगा और सब समय प्रसन्न रहने का आदी बना रहेगा।

अब एक तीसरे बच्चे की कल्पना कीजिए। मान लिया जाय कि उसके रोने की भी तनिक परवा नहीं की जाती। यह सम्भव हो सकता है कि वह यह जानने पर भी कि रोने से कोई लाभ नहीं होता, मुसकाने की आदत डालने में असमर्थ हो, और निर्विकार तथा निरुत्साह का भाव ग्रहण करे। ऐसा बच्चा परवर्ती जीवन में निर्जीव तथा निस्तेज-स्वभाव का बन जायगा।

चुपचाप रहकर अपने माता-पिता के इशारों पर चलने में ही अपनी भलाई देखनेवाले बच्चे का उदाहरण दिया जा चुका है। अब एक ऐसे बच्चे की कल्पना कीजिए जो अपने अज्ञात में अपने माता-पिता की इस दुर्बलता को जान गया है कि वे शान्ति से रहना पसन्द करते हैं, और किसी भी उपाय से अशान्ति के कारण को टालने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। ऐसा बच्चा स्वभावतः तेज़ मिजाज़वाला और उग्र-प्रकृति का बन जायगा, और बात-बात में तूफ़ान उठाकर अपने माता-पिता को आतंकित करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने का आदी हो जायगा। इस आदत से फिर जीवन-भर पिण्ड छुड़ाना उसके लिए कठिन हो जायगा।

जिन बच्चों के माता-पिता का स्वभाव बहुत तीव्र और उग्र होता है वे अनुभव से यह जान लेते हैं कि उनका ध्यान अपने प्रति आकर्षित करने से उन्हें लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना अधिक है; इसलिए धीरे-धीरे उनका यह स्वभाव बन जाता है कि जब कोई भी व्यक्ति उनके प्रति विशेष रूप से ध्यान देता है, उनकी ओर ग़ौर से देखता है, तो वे बहुत घबरा जाते हैं, और अत्यन्त संकोच का अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार संकोचशील व्यक्तियों के चरित्र-निर्माण का श्रीगणेश होता है।

कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो यह अनुभव प्राप्त करते हैं कि छोटा-सा मुँह लेकर बड़ी-बड़ी बातें करने से उन्हें लाभ होता है— उनके माता-पिता प्रसन्न रहते हैं। ऐसे बच्चे धीरे-धीरे गपोड़ेबाज़ बन जाते हैं, और अपनी डींगों से दूसरों पर धाक जमाने के आदी हो जाते हैं। यदि इस प्रकार के बच्चों को प्रारम्भ में ही यह जता दिया जाय कि झूठमूठ का दंभ प्रकट करने से उन्हें हानि उठानी पड़ेगी, तो उनकी डींग हाँकने की आदत जड़ से उखड़ जायगी। पर यदि यह सोचकर कि बच्चों की दांभिकता एक अच्छी दिल्लगी है, उन्हें प्रत्येक दंभ-भरी बात के लिए शाबाशी दी जाय, तो परवर्ती जीवन में वह दांभिकता भयंकर रूप धारण कर लेगी, यह निश्चित है।

बच्चे के चरित्र-निर्माण-काल में बहुधा उसकी परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, जिनके कारण उसके स्वभाव में बहुत-सी उलझनों और जटिलताओं के आ जाने की सम्भावना रहती है। कल्पना कीजिए कि प्रारंभिक वर्षों में बच्चे को प्रत्येक विषय में अपने इच्छानुसार चलने की पूरी सुविधायें दे दी गईं। उसके बाद अकस्मात् किसी कारण से परिस्थिति बदल गई। अपनी पारि-पार्श्विक अवस्था के इस आकस्मिक परिवर्तन का बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव उस बच्चे पर पड़ेगा, और उसे अपनी प्रवृत्तियों को दबाने की आदत पड़ जायगी। इस दमन का बहुत बुरा परिणाम उसे अपने परवर्ती जीवन में भोगना पड़ेगा। इसलिए बच्चे को प्रारंभ से ही ऐसी आदतें डालने के लिए उत्साहित करना चाहिए, जिनके कारण उसे परवर्ती जीवन में दुःख भोगना न पड़े, और परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तनों से कोई हानि न उठानी पड़े।

'समान' परिस्थितियाँ

वर्तमान प्रकरण को पढ़ने के बाद यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि यदि दो बच्चों का पालन-पोषण एक ही घर में,

एक ही माता-पिता द्वारा समान परिस्थितियों में हो, तो क्या दोनों के चरित्र का गठन भी पूर्णतः समान रूप से होगा ?

वास्तव में इस प्रश्न में जो शर्तें उपस्थित की गई हैं वे असम्भव हैं। कोई भी दो बच्चे पूर्णतः समान परिस्थितियों में कभी नहीं पल सकते, और उनके जीवन के अनुभव कभी समान नहीं हो सकते। पहली मुख्य बात यह है कि माता-पिता के व्यवहार में स्वभावतः अन्तर पड़ जाता है । पहले बच्चे के जन्म के समय माता-पिता की जो सांसारिक, शारीरिक तथा मानसिक परिस्थितियाँ रही होंगी, दूसरे बच्चे के जन्म के समय निश्चय ही उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जायगा । इसके अतिरिक्त पहले बच्चे के पालन पोषण से जो अनुभव माता-पिता को होते हैं, उनसे दूसरे बच्चे के प्रति उनका व्यवहार अवश्य ही किसी-न-किसी रूप में बदल जाता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि इस बीच दोनों के स्वास्थ्य में अन्तर आगया हो। उनकी आर्थिक चिन्ता बढ़ जाने की भी सम्भावना है । इस तरह की बीसियों बातें हो सकती हैं जिनके कारण दूसरे बच्चे के प्रति उनके व्यवहार में अन्तर दिखाई देता है।

बच्चों की परिस्थितियों में अन्तर पड़ जाने का एक और प्रत्यक्ष कारण यह है कि एक बच्चा बड़ा होता है और दूसरा छोटा। एक का वातावरण अपने बड़े भाई या बड़ी बहन के अस्तित्व से घिरा रहता है, दूसरे का वातावरण अपने छोटे भाई या छोटी बहन के अस्तित्व से ग्रस्त रहता है। इन दो वातावरणों में स्वभावतः भयंकर अन्तर पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त दो बच्चों की शारीरिक परिस्थितियाँ भी समान नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि एक का जन्म ग्रीष्मकाल में हुआ हो और दूसरे का शीतकाल में। इस प्रकार जन्मकाल की पहली अनुभूतियों में अन्तर पड़ जाने

से सारे जीवन-काल में दोनों की शारीरिकता में अन्तर पड़ सकता है।

चूँकि प्रारंभिक जीवन की एक तुच्छ से तुच्छ और साधारण से साधारण बात का स्थायी प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है, इसलिए यह सम्भव नहीं हो सकता कि दो बच्चे समान रूप से समान परिस्थितियों में पाले जा सकें। परवर्ती जीवन में बड़ी से बड़ी बात भी बहुधा जीवन पर कोई विशेष प्रभाव छोड़े बिना ही टल सकती है, क्योंकि तब तक व्यक्ति के चरित्र का एक प्रकार से निश्चित निर्माण हो चुकता है। पर प्राथमिक जीवन में, किसी भी अभ्यास को अपनाने के पहले, तनिक-सी बात भी बड़ा भारी अन्तर पैदा कर देती है, जिसका परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है।

हमारे अभ्यास और उनके कारण

प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार या बर्ताव उसके प्रारम्भिक जीवन में प्राप्त किये गये अभ्यासों पर निर्भर करता है। आधुनिक मनो-विज्ञान यह बात किसी भी अंश में स्वीकार नहीं करना चाहता कि मनुष्य का व्यावहारिक चरित्र जन्मगत होता है—अर्थात् वह मा के पेट से ही एक विशेष प्रकार का स्वभाव लेकर आता है। बहुत छोटी अवस्था से—सम्भवत: बच्चे के प्रथम वर्ष से ही—परिस्थितियों के अनुसार जो आदतें बनती जाती हैं, वे ही बाद में व्यक्ति के 'स्वभाव' या 'चरित्र' का रूप धारण कर लेती हैं।

वंश-परम्परा का महत्त्व

वंश-परम्परा का कोई महत्त्व है ही नहीं, हमारा यह आशय नहीं है। वंशगत विशेषता का महत्त्व इस बात पर है कि वह

किसी विशेष परिस्थिति में एक विशेष प्रकार के व्यवहार की क्षमता देती है। इसलिए किन परिस्थितियों में बच्चा पलता है यह बात उसके चरित्र-निर्माण के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वंशगत विशेषताओं से विभिन्न क्षेत्रों में विकास प्राप्त करने की सम्भावनायें प्राप्त हो सकती हैं, पर प्रत्येक सम्भावना विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूपों से अपना विकास करती है। अतएव स्वभाव का गठन परिस्थितियों पर ही अवलम्बित रहता है।

लम्बी नाक या कञ्जी आँखें वंश-परम्परा से प्राप्त हो सकती हैं, पर सचाई, ईमानदारी और साहस अथवा बेईमानी और कायरता का स्वभाव जन्म के बाद की परिस्थितियों से ही बनता है। बहुधा माता-पिता के स्वभाव से बच्चों का स्वभाव मिलता-जुलता दिखाई देता है। पर इस बात से इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँचना चाहिए कि बच्चों ने वंशपरम्परा से वह स्वभाव पाया है। इसका कारण यह समझना चाहिए कि जिन परिस्थितियों में माता-पिता के चरित्र का निर्माण हुआ उससे थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती परिस्थितियों में ही बच्चों का पालन-पोषण भी हुआ होगा। चोरों, बदमाशों और गुण्डों की सन्तान को बहुधा हम उन्हीं के समान इसलिए पाते हैं कि जिस दुर्नीतिपूर्ण वातावरण में उनके माता-पिता पले होते हैं उनका पालन-पोषण भी उसी से मिलते-जुलते वातावरण में होता है।

मूल संस्कारों की समानता

इसमें सन्देह नहीं कि सभी मनुष्यों के स्वभाव के मूल में कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक क्षुधायें और संस्कार समान रूप से वर्तमान रहते हैं। खाने, पीने, सोने, सन्तान उत्पन्न करने तथा और भी बहुत-से विषयों की स्वाभाविक लालसा से सब मनुष्य समान रूप से ग्रस्त रहते हैं। कुछ अन्धसंस्कार भी

सबमें समान रूप से वर्तमान पाये जाते हैं, जैसे किसी भय से चकित होने पर पत्थर की तरह जड़ बन जाना, आतंक उपस्थित होने पर भाग निकलना, क्रुद्ध होना, अनुकरण करना आदि आदि। ये सब प्रवृत्तियाँ और संस्कार सब मनुष्यों में मूलगत होते हैं। पर किसी व्यक्ति में कौन प्रवृत्ति या कौन संस्कार अधिक विकसित होगा, कौन प्रवृत्ति क्षीण और कौन प्रबल रहेगी, यह बात जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न अनुभवों पर निर्भर करती है।

उदाहरण के लिए, भय की भावना सबमें समान रूप से वर्तमान रहती है। पर यदि किसी बच्चे को पाँच-छः वर्ष की अवस्था तक इस ढङ्ग से पाला जाय कि उसे भय का कोई अनुभव होने का अवसर ही न मिले, तो यह निश्चित है कि परवर्ती जीवन में उस बच्चे की भय-भावना बहुत हलकी पड़ जायगी। वह भयका अनुभव थोड़ा-बहुत अवश्य करेगा, पर यह भावना उसे इस हद तक कभी नहीं दबा सकती कि वह मनोविकार-ग्रस्त बन जाय।

इसके विपरीत, यदि किसी बच्चे को बात-बात में डराया और धमकाया जाय अथवा और किसी कारण से उसके मन में भय की भावना उत्पन्न कराई जाय, तो यह बहुत सम्भव है कि ऐसे बच्चे का परवर्ती जीवन भय की भावना से भार-ग्रस्त रहेगा। उसका सारा जीवन अकारण अथवा सकारण भय की अनुभूति से पीड़ित रहेगा। ज़रा-ज़रा-सी बात से भीत होने का अभ्यास बन जाने से उसके स्वभाव में कायरता आ जायगी। इसलिए अभ्यास का बड़ा भारी महत्त्व होता है।

बचपन के अभ्यास

बच्चे के पहली बार रोने पर जब उसे थपथपाया जाता है, अथवा तत्काल ही दूध पिला दिया जाता है, तो उसके मन में

अज्ञात रूप से यह धारणा बन जाती है कि रोने का परिणाम अच्छा होता है। अतएव दूसरी बार रोने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो जाती है। दूसरी बार रोने पर भी जब तत्काल उसकी इच्छा की पूर्ति करके उसे शान्त किया जाता है तब तीसरी बार रोने की प्रवृत्ति और अधिक ज़ोर मारने लगती है। धीरे-धीरे उसका रोने का अभ्यास बन जाता है; और यह अभ्यास ही बाद में उसका स्वभाव बन जाता है। इसलिए यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाती है कि व्यक्ति का चरित्र-गठन उसके बचपन के अभ्यासों पर निर्भर करता है।

बचपन के अभ्यास ऐसी दृढ़ता से हमारे मन के भीतर अपनी जड़ें जमा लेते हैं कि परवर्ती जीवन में जब हम कोई नया अभ्यास डालने का प्रयत्न करते हैं, तो पिछले अभ्यासों से उसका बड़ा विकट संघर्ष होने लगता है, और जब तक हम पूर्ण रूप से अपनी इच्छाशक्ति को काम में नहीं ला पाते, तब तक नया अभ्यास डालने में असमर्थ रहते हैं। पर प्रारंभ में साधारण से साधारण कारण से कोई भी अभ्यास हमारे भीतर अपना घर कर सकता है!

प्रतिदिन के जीवन में हम जिस-जिस ढंग से उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते तथा दूसरी चेष्टायें करते हैं, वे सब हमारे पिछले जीवन में प्राप्त किये गये अभ्यासों के फल हैं। बाद में हम अज्ञात रूप से दैनिक जीवन का प्रत्येक कार्य करते हैं, और इस बात का कुछ भी भान हमें नहीं रहता कि किसी विशेष कार्य को विशेष ढंग से करने की आदत हममें कब और कैसे पड़ी। पर यह निश्चित है कि हमारे प्रारंभिक जीवन में जिन-जिन उपायों से हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति हुई है, उन उपायों को कुछ समय तक लगातार काम में लाते रहने से हमारी जो आदतें बन चुकी हैं वे हमारे स्वभाव के साथ मिलकर एकाकार हो गई हैं;

बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि उन्हीं को लेकर हमारा स्वभाव गठित हुआ है। प्रारंभ में उन विशेष अभ्यासों से हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति हुई है, पर अब वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखती हैं। उनसे हमारी इच्छाओं की पूर्ति होती है या नहीं, इस बात की तनिक भी परवा अब वे नहीं करतीं, और हमारे न चाहने पर भी बरबस हमारे मन पर अपना अधिकार जमाये रहती हैं।

हम जीवन में जो कुछ भी सीख पाते हैं वह सब हमारे अभ्यासों का फल है। हमारा हँसना-बोलना, पढ़ना-लिखना, चोरी करना या महात्मा बनना, सब बचपन में अज्ञात रूप से प्राप्त किये गये छोटे-छोटे अभ्यासों का परिणाम है।

पहले ही कहा जा चुका है कि मूल प्रवृत्तियाँ सब मनुष्यों में समान रूप से वर्तमान रहती हैं। तब एक व्यक्ति के चरित्र से दूसरे व्यक्ति के चरित्र में अन्तर आने का कारण क्या है? कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रत्येक मूल प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए विभिन्न उपायों का सहारा लेता है। वे उपाय धीरे-धीरे विभिन्न अभ्यासों का रूप धारण कर लेते हैं, जिनके फल-स्वरूप व्यक्तियों के चरित्रों में विशेष प्रभेद दिखाई देने लगता है।

अभ्यास किन उपायों से बदले जा सकते हैं

इस प्रकार से प्राप्त किया गया प्रत्येक अभ्यास हमारे स्वभाव का एक अविच्छिन्न अंग बन जाता है। इसलिए बाद में जब हम उसके कारण अपने को दुःखी पाकर उसे सुधारना अथवा त्यागना चाहते हैं, तो सहज में उससे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। पर यदि प्रारंभ में ही किसी बच्चे के माता-पिता, अभिभावक अथवा शिक्षक यह देखकर कि बच्चा किसी ऐसे अभ्यास को पकड़ता जाता है, जिसका परिणाम बाद में उसके लिए हानिकर

सिद्ध होगा, उस विशेष अभ्यास से उसे मुक्त करने का उचित प्रयत्न करें, तो वह आसानी से दूर किया जा सकता है। बच्चे की किसी आदत को छुड़ाने की चेष्टा करने के पहले इस बात पर ध्यान देना होगा कि उसने अपनी किस प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए वह आदत डाली है। यह बात मालूम हो जाने पर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसकी वह विशेष प्रवृत्ति किसी दूसरे और अच्छे उपाय से चरितार्थ हो सके।

उदाहरण के लिए, यदि हम यह देखें कि एक बच्चा साधारण से साधारण कष्ट के कारण रोने-झीखने लगता है, और हम यह चाहें कि तनिक-सी बात से कातर हो उठने के अभ्यास के स्थान में उसमें साहस का बीज बो दिया जाय, तो सबसे पहले हमें यह जानना होगा कि वह किस मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए रोता-झीखता है। इसका कारण यह हो सकता है कि जब बच्चा रोने लगता है तब हम तत्काल उसकी ओर ध्यान देने लगते हैं, और जब वह शान्त रहता है तब हम उसकी उपेक्षा करते हैं। ऐसी दशा में वह ढंग पकड़ना चाहिए कि जब-जब बच्चा रोना-झीखना प्रारम्भ करे, तब-तब उसके प्रति उपेक्षा दिखाई जाय, और जब वह तनिक साहस के साथ अपने कष्ट को झेलने की चेष्टा करे, तो उसकी ओर देखकर मुस्कराया जाय और उसे उत्साहित किया जाय। इसका परिणाम यह होगा कि बच्चा प्रशंसा-प्राप्ति के लोभ से अपने में साहस का अधिकाधिक विकास करना प्रारम्भ कर देगा, और धीरे-धीरे उसमें सहनशीलता और साहस का अभ्यास जड़ जमा लेगा। बाद में यही अभ्यास उसके स्वभाव का एक अंग बन जायगा, चाहे उसके कारण कोई उसकी प्रशंसा करे या निन्दा, उसे सुख मिले या दुःख।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मानव-शिशुओं की आदतें सुधारने के लिए उन उपायों को काम में लाने

से न चलेगा, जो कुत्तों अथवा अन्य पशुओं के बच्चों को सिखाने के लिए काम में लाये जाते हैं। मानव-शिशु में आत्मचेतना और बुद्धि किसी-न-किसी परिमाण में अवश्य वर्तमान रहती है। इसलिए हमें उसकी आदतें सुधारने के प्रयत्न में उसका सहयोग प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् उसके मन में स्वयं अपना अभ्यास बदलने की इच्छा उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए। प्रयोगों तथा अनुभवों से जाना गया है कि यह कोई असम्भव बात नहीं है, बल्कि पूर्णतः सम्भव है। केवल बच्चे ही नहीं, सयानों के साथ भी इसी नीति को बर्तना चाहिए। दूसरों पर अपनी बात का प्रभाव डालने के उद्देश्य से हमें उन्हें बलपूर्वक किसी उचित काम के लिए दबाव नहीं डालना चाहिए, बल्कि उनके मन में उस काम को करने की इच्छा जगानी चाहिए। यह इच्छा तभी जगाई जा सकती है, जब हम उन्हें बड़ी चतुराई के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह विश्वास दिला सकें कि उचित उपायों का सहारा पकड़ने पर वे अपनी मूल प्रवृत्तियों को और अधिक अच्छे ढंग से चरितार्थ कर सकते हैं।

इच्छाशक्ति के प्रयोग

पहले ही कहा जा चुका है कि परवर्ती जीवन में कोई नई आदत सहज में नहीं डाली जा सकती। पुराने अभ्यास पग-पग पर नये अभ्यास का प्रतिरोध करते हैं। फिर भी यदि हम अपनी इच्छाशक्ति का पूर्ण प्रयोग करें जिस पुराने अभ्यास को त्यागकर नया अभ्यास पकड़ना चाहते हैं उसका विश्लेषण करके उसके मूल कारण का पता लगावें, और अपने प्रयत्न में अटल रहें, तो नई आदत डाल सकते हैं। नये अभ्यासों की जड़ जमाने के कुछ उपाय और नियम नीचे दिये जाते हैं—

(१) किसी नये अभ्यास का आरम्भ किसी निश्चित और

उन्नत उद्देश्य से अत्यन्त दृढ़ता के साथ किया जाय। अपने को ऐसी परिस्थितियों के बीच में रखने का प्रयत्न करना चाहिए जो नये उद्देश्यों के अनुकूल हों। पिछली परिस्थितियों से धीरे-धीरे अपने को मुक्त करना श्रेयस्कर होगा। अपने नये और महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को पूरा करने की प्रतिज्ञा कुछ उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तियों के आगे करने से आत्मसम्मान जगेगा और प्रेरणा प्राप्त होगी।

(२) जब आप अपने उद्देश्य में जुट जायँ, तो नये अभ्यास की जड़ अच्छी तरह जम जाने के पूर्व किसी प्रकार के ढिलाव को प्रश्रय न दें। एक बार भी कुछ ढीलापन दिखाने का फल वैसा ही होगा जैसा सुतली के गोले को बड़े परिश्रम से एक बार पूरा लपेटने के बाद उसे फिर गिरा दिया जाय।

(३) अपने निश्चय को पूरा करने का जो कोई भी सुयोग प्राप्त हो, उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए।

(४) अपने उत्साह को ठण्डा न पड़ने देने के उद्देश्य से प्रतिदिन छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में अपनी दृढ़ता की परीक्षा करते रहना चाहिए। कोई साधारण-सा काम यदि आपको कठिन जान पड़े, तो उस काम को निश्चित रूप से पूरा करने की प्रतिज्ञा कर लिया करें। इससे कठिनाइयों से न घबराने की आदत पड़ जायगी, और जिस महत्त्वपूर्ण नये अभ्यास को अपनाने के प्रयत्न में आप लगे हैं, उसमें सफलता प्राप्त करने की सम्भावना बढ़ जायगी। छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, मान लिया जाय कि आज आपके मन में किसी विशेष वस्तु को चखने की लालसा जगी है। आपको अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि आज आप चाहे और कोई चीज़ खावें, पर उस विशेष खाद्य को छुयें नहीं जिसके लिए आपका जी इतना अधिक ललचा रहा है, भले ही वह चीज़ अमृत-तुल्य, सुस्वादु और सञ्जीवनी के समान

स्वास्थ्यवर्द्धक हो। इच्छाशक्ति के इस प्रकार के छोटे-मोटे प्रयोगों से आत्म-नियन्त्रण और आत्म-त्याग का अभ्यास पड़ जाता है, और जीवन के बड़े-बड़े प्रयोगों में विशेष सहायता प्राप्त होती है।

दैनिक जीवन में इच्छाशक्ति के प्रयोगों में से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग यह है कि हमारे प्रतिदिन के जो अनिवार्य कर्त्तव्य कर्म हैं उन्हें कभी एक क्षण के लिए भी टालने का भाव हम मन में न लावें। वे कर्म हमें प्रियकर हों या अप्रिय, उन्हें हर हालत में पूरा करने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास का फल यह होगा कि हम जीवन में कभी अपने कर्त्तव्य-पथ से नहीं डिगने पावेंगे, और अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को बलि देकर समाज और संसार के प्रति अपनी सेवाओं को अर्पित करने के लिए सब समय तैयार रहेंगे।

हम जिस किसी भी कार्य को एक बार हाथ में ले लें, उसे पूर्ण मनोयोग के साथ सुन्दरतम रूप से करने का अभ्यास डालना भी जीवन में अत्यन्त हितकर सिद्ध होता है। जब तक वह विशेष काम (चाहे वह कैसा ही कष्टकर तथा अप्रिय क्यों न हो) यथा-सम्भव उत्तम रूप से पूरा नहीं हो जाता, तब तक किसी दूसरे कार्य की ओर ध्यान न देने का नियम बना लेना चाहिए। "प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति" अर्थात् उत्तम किसी काम को एक बार हाथ में लेने पर उसे पूरा किये बिना कदापि नहीं छोड़ते, फिर चाहे कैसे ही विघ्नों का सामना उन्हें क्यों न करना पड़े। यह अभ्यास यदि माता-पिता अपने बच्चों में छुटपन में ही रोपित कर सकें, तो वे निश्चित रूप से जीवन में सफलता प्राप्त करने की कुञ्जी उनके हाथों में दे सकेंगे।

यदि पूर्वोल्लिखित दो अन्तिम अभ्यासों को कोई व्यक्ति अपना सके, तो शेष अच्छे अभ्यास अपने आप उसके भीतर घर कर लेंगे।

भावुकता के दुर्गुण

अपने सम्बन्ध में कम सोचने और दूसरों के सम्बन्ध में अधिक सोचने का अभ्यास मनुष्य को आजीवन सुखी बना सकता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में किसी भी मनोविकार का शिकार नहीं बन सकता। पिछले किसी प्रकरण में हम यह बात भली-भाँति प्रमाणित कर चुके हैं कि अधिकतर वही व्यक्ति मनोविकारों से पीड़ित रहता है जो बहुत अधिक भावुक हो, अहंभाव से ग्रस्त हो और स्वार्थ की भावना जिसमें प्रबल हो। स्वार्थी व्यक्ति स्वभावतः समाज के बीच में रहने पर भी समाज से अलग रहेगा, मनुष्य जैसे सामाजिक प्राणी के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह समाज से विच्छिन्न रहकर सुखी हो सके। ऐसे व्यक्ति के भीतर निश्चय ही नाना प्रकार के भय और दुश्चिन्तायें घर कर लेंगी। इसलिए जो व्यक्ति अपने सम्बन्ध में जितना कम सोचेगा, और दूसरों के सम्बन्ध में जितना अधिक सोचने की आदत डालेगा, वह जीवन में उतना ही अधिक सुखी और भय-भावना से मुक्त होगा।

भावुकता की प्रवृत्ति को मन से जितना हटाया जा सके उतना श्रेयस्कर है। यह प्रवृत्ति तभी हट सकती है जब इसके स्थान में बुद्धि को आरोपित कर दिया जाय और तर्क तथा विवेचना से काम लेने का अभ्यास डाला जाय। थोथी भावुकता से न जाने कितने व्यक्तियों का जीवन दुःखपूर्ण और विषमय बन चुका है, इसका ठिकाना नहीं। यह प्रवृत्ति मनुष्य को चञ्चल, अस्थिर, आत्मगत, स्वार्थी, आलसी और निकम्मा बना देती है। किसी भी क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व देखने में नहीं आता। बुद्धि के साथ यदि इसका सामञ्जस्य हो सके, तो यह लाभकारी अवश्य सिद्ध होती है, पर बहुधा यह देखने में आता है कि भावुक प्राणी

बुद्धि और तर्क से कोसों दूर भागना चाहता है। बहुत-से बुद्धिशाली व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी यह बात पाई गई है कि जिस समय उनकी भावुकता उमड़ पड़ती है उस समय वे अपनी बुद्धि को ताक़ में रख देते हैं, और उसके बहाव में बह जाते हैं।

क्या भावुक व्यक्ति दयालु होता है ?

बहुधा यह भ्रममूलक धारणा लोगों में पाई जाती है कि भावुक व्यक्ति दयालु और परोपकारी होता है। वास्तव में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि भावुक व्यक्ति घोर स्वार्थी होता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे व्यक्ति के मन में एक अत्यन्त तुच्छ कारण से भी कभी-कभी दया का भाव उमड़ पड़ता है। पर उसका वह आवेश कुछ ही समय के लिए स्थिर रह पाता है; और विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुछ समय के लिए जो दया का भाव उसके मन में उमड़ता है उसका कोई विशेष फल देखने में नहीं आता। ऐसे व्यक्ति बात-बात में आँसू गिरा सकते हैं (और यह बात भी सच है कि वे आँसू बनावटी नहीं, वास्तविक होते हैं), पर अपनी स्वार्थ-भरी पोटली में से एक पार्थिव कण भी वे दूसरों के लिए ख़र्च करना नहीं चाहते। चूँकि वे बुद्धि से काम नहीं लेते, इसलिए यह साधारण-सी बात उनके मस्तिष्क में नहीं समाती कि भूख-प्यास से पीड़ित किसी व्यक्ति का पेट उनके आँसुओं से नहीं भर सकता; उसे किसी वास्तविक और ठोस खाद्य-पदार्थ की आवश्यकता रहती है।

हम व्यक्तिगत रूप से एक ऐसे भावुक व्यक्ति से परिचित हैं जो दीन-हीन व्यक्तियों की वास्तविक अथवा काल्पनिक दुर्दशा का काव्यमय वर्णन करते-करते सचमुच रो पड़ते थे। एक दिन वे इसी प्रकार की भावुकता की बाढ़ में बहे जा रहे थे। इतने में

एक जीर्ण-शीर्ण भिखारिणी बुढ़िया दरवाज़े पर आ पहुँची। बुढ़िया ने अत्यन्त करुणा प्रदर्शित करते हुए यह सूचित किया कि उसकी दशा सदा वैसी नहीं रही है। उसने अपने को एक अच्छे कुल और मध्यवित्त परिवार की स्त्री बताया। अधेड़ अवस्था में उसके पति की मृत्यु हो जाने के बाद उसके दोनों पुत्रों ने उसके प्रति घोर अवज्ञा दिखाई। उसकी दोनों पतोहुओं ने अपने नीच व्यवहार से उसे ऐसा तंग कर डाला कि स्वभावतः उनसे उसकी कहा-सुनी होने लगी। अपने पत्नियों के सिखाने पर पुत्रों ने भी स्पष्ट शब्दों में उसका तिरस्कार करना शुरू कर दिया। अन्त में यहाँ तक नौबत आगई कि उसे घर छोड़कर भीख माँगने को बाध्य होना पड़ा। बुढ़िया की यह राम-कथा सुनकर हमारे भावुक मित्र महाशय आँखों में तत्काल आँसू भर लाये और कहने लगे—"अरे, हाय रे दुनिया! बूढ़ी मा पर भी ऐसा अत्याचार यहाँ होता है! अरे राम! राम! बेचारी बुढ़िया पर कैसी बीत रही होगी! यह उसका हृदय ही जान सकता है! कैसा अनर्थ है! कैसा अन्धेर है!" इस तरह के नाटकीय उद्गार और भी उनके मुँह से न जाने कितने निकलते, पर इतने में बुढ़िया ने प्रार्थना की कि उसे कुछ मिल जाय। यह सुनते ही हमारे भावुक मित्र महोदय की कविता ठण्ढी पड़ी। उन्होंने जेब में हाथ डालकर टटोला। उनकी जेब में इकन्नियाँ, दुवन्नियाँ, चवन्नियाँ, अठन्नियाँ, रुपये आदि सभी प्रकार के सिक्के पड़े हुए थे, पर नहीं था एक भी ताम्रखण्ड। बहुत टटोलने के बाद भी जब उन्हें पैसा नहीं मिला, तो उन्होंने एक इकन्नी हमारी ओर बढ़ाते हुए कहा—"इसके पैसे आपके पास हों, तो दे दीजिए, इस ग़रीब बेचारी को एक पैसा हमारी तरफ़ से मिल जाय, तो अच्छा ही है।"

हमने मुस्कराकर कहा—"आप इकन्नी रहने दीजिए, मैं दिये देता हूँ।" यह कहकर हमने अपनी जेब से एक अठन्नी निकालकर

बुढ़िया को दे दी। अठन्नी देखकर मित्र महाशय घबराहट के स्वर में बोल उठे—"अरे, यह तो अठन्नी है! आपने भूल से पैसे के बदले अठन्नी दे दी है!" हमने शान्तभाव से कहा—"जी नहीं, मैंने जानबूझकर अठन्नी दी है।"

"तब ऐसी भूल आप क्यों कर रहे हैं?"—हमारे मित्र महाशय बोले—"यह तो आपने आवश्यकता से बहुत अधिक इस बुढ़िया को दे दिया है!"

हमने उत्तर दिया—"जी नहीं, यह आवश्यकता से बहुत कम है। यदि आप इस बुढ़िया की रामकहानी पर विश्वास करते हैं, तो उसके कष्टों की सीमा नहीं है, यह आपको स्वीकार करना पड़ेगा; और यदि यह सोचा जाय कि वास्तव में उसकी बातें सत्य नहीं हैं, और वह केवल दूसरों की करुणा उभाड़ने का एक ढंग उसने पकड़ा है, तो उसकी दशा और भी अधिक दयनीय समझी जानी चाहिए, क्योंकि पापी पेट के कारण विवश होकर उसे इस बुढ़ौती में भी झूठ बोलना और दर-दर भटकना पड़ रहा है।"

पर हमारा कोई भी तर्क हमारे भावुक मित्र महाशय के मन पर से इस बात की बेचैनी को दूर करने में समर्थ न हुआ कि उस भिखारिन बुढ़िया को एक पैसे के स्थान में एक अठन्नी दे दी गई है। उनकी जो भावुकता-जनित करुणा पहले उस बुढ़िया के प्रति उमड़ चली थी, वह हमारी 'नादानी' के कारण हमारे प्रति उमड़ चली। कहने लगे—"मालूम होता है, आप पैसा खर्च करने का ढंग नहीं जानते। आप बड़े उदार हैं, पर क्षमा कीजिएगा, आप पात्र-अपात्र का ध्यान नहीं रखते।"

हम अपने परम-हितैषी मित्र महोदय की यह फटकार सुनकर चुप हो रहे।

इस एक दृष्टान्त से पाठकों के आगे यह बात स्पष्ट हो जायगी

कि वास्तव में भावुक व्यक्ति जितना दयाशील अपने को बतलाते हैं, या दूसरे उन्हें जितना सहृदय समझते हैं, उतना वे वास्तव में होते नहीं। पाठक यदि अपने परिचित भावुक व्यक्तियों के स्वभाव का विश्लेषण करके देखें तो उन्हें हमारी बात की यथार्थता का पता और अच्छी तरह से लग जायगा।

भावुक व्यक्ति का अहंभाव और घृणित स्वार्थ

चूँकि भावुक व्यक्ति बड़े आत्मगत होते हैं, और अपने सम्बन्ध की अनुभूति उनकी बहुत तीव्र होती है, इसलिए बड़े तुनुक-मिज़ाज भी होते हैं। एक साधारण-सी बात से भी वे अपने को अपमानित समझने लगते हैं, और यदि कोई उनकी झूठी प्रशंसा भी करे तो अत्यन्त गद्‌गद हो उठते हैं। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक विषय की अच्छाई-बुराई का विचार वे अपनेपन के आदर्श से करते हैं। "अमुक व्यक्ति ने मेरा यह उपकार किया, इसलिए वह अच्छा है; अमुक व्यक्ति ने पाँच जनों के बीच में मेरा अपमान किया, वह निश्चय ही घोर नीच है। खद्दर की टोपी पहनने से कुछ लोग मेरा सम्मान करते हैं, इसलिए महात्मा गांधी की जय हो, जिन्होंने इस टोपी का आविष्कार किया; कोट, पैण्ट, टाई आदि पहनना झञ्झट का काम है, मुझ जैसे मोटे शरीरवाले व्यक्ति के शरीर में इस प्रकार की पोशाक अच्छी भी नहीं लगती, इसलिए अंगूर खट्टे हैं, और योरपीय फ़ैशन का सत्यानाश हो!" प्रत्येक विषय पर विचार करते समय ऐसा व्यक्ति यह सोचता रहता है कि उसे उससे क्या लाभ और क्या हानि होगी। "अमुक व्यक्ति से मित्रता स्थापित करने से चाय, पान और सिगरेट में मेरे कै पैसे बचेंगे? अमुक मित्र की गुप्त बातों का भण्डाफोड़ यदि मैं कर दूँ, तो उसके शत्रु बन जाने से मुझे क्या-क्या हानियाँ उठानी

पड़ेंगी ? योरप में युद्ध छिड़ जाने से व्यक्तिगत-रूप से मुझ पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? जर्मनों के बम कहीं भारत में तो नहीं गिरेंगे ? यदि मेरे ही मकान के ऊपर एक बम गिर जाय तो—! भारत को स्वराज्य मिल जाने से मेरी आर्थिक स्थिति किस हद तक सुधर जायगी ?" इस प्रकार की बातों की चिन्ता में भावुक व्यक्ति का जीवन बीतता है।

यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति इस प्रकार के घोर स्वार्थ के दृष्टिकोण से संसार को देखेगा और अपनी व्यक्तिगत लाभ-हानि के आदर्श के अनुसार समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहेगा, वह कदापि जीवन की यथार्थता का परिचय प्राप्त नहीं कर सकेगा। जीवन-भर वह दुःख और असन्तोष की उलझनों में फँसता रहेगा।

चूँकि भावुक व्यक्ति घोर अहंवादी होते हैं इसलिए उनकी करुणा अपने प्रति सबसे अधिक प्रबल होती है। आप भावुक व्यक्तियों को बहुधा अपने सम्बन्ध में रोते-झींखते हुए पावेंगे। "अरे भाई, मैं तो एक दीन-हीन, अनाथ, निस्सहाय, प्राणी हूँ! मेरे साथी सब बड़े-बड़े पदों पर पहुँच गये हैं, पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि यद्यपि मैं अपने किसी भी मित्र से योग्यता में किसी अंश में भी कम नहीं हूँ, फिर भी एक साधारण 'क्लार्क' के पद से जीवन में आगे न बढ़ सका! जीवन में मैंने कितना अपमान सहा है, कितने संघर्षों का सामना मुझे करना पड़ा है, इस समय भी कैसे भयंकर दुःख मुझे झेलने पड़ रहे हैं, यह मैं ही जानता हूँ! भाई, कुछ न पूछो, मैं बड़ा अभागा हूँ!" इस प्रकार के उद्गार आपको बहुधा भावुक प्राणियों के मुखों से सुनाई पड़ेंगे। ऐसे व्यक्ति यह नहीं समझते कि अपने प्रति करुणा प्रकट करने से बढ़कर कायरता और पुरुषार्थहीनता का चिह्न दूसरा नहीं है। इस प्रकार की आत्म-

करुणा से कोई महत्त्वपूर्ण लाभ किसी भी रूप में नहीं हो सकत
बल्कि व्यक्ति के अधिकाधिक निकम्मा, आलसी और निरुद्यो
बनने की सम्भावना अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है। अव
की वृद्धि के साथ ही साथ भावुक व्यक्ति की अहम्मन्यता
तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। एक ओर शारीरिक त
मानसिक असमर्थता चरमसीमा को पहुँचने लगती है, दू
ओर अपनेपन का भाव उग्र से उग्रतर रूप धारण करता ज
है। फलस्वरूप अत्यधिक भावुकता व्यक्ति को बहुधा पा
बनाकर, पागलखाने भेजकर शान्त होती है।

इन सब कारणों से भावुकता को एक गुण न समझकर उ
एक भयंकर मानसिक रोग समझना चाहिए। जिस व्यक्ति
भावुकता की मात्रा बहुत बढ़ी हुई हो, वह यदि अपना कल्या
चाहे, तो उसे अपनी पूरी शक्ति से इस मनोविकार के दु
कीटाणुओं को जड़ से निकाल फेंकने का प्रयत्न करना चाहिए
अपने भीतर विवेचना और तर्क की प्रवृत्ति का अधिक विका
करने से इस रोग से धीरे-धीरे छुटकारा पाया जा सकता है।

स्मरण रहे कि भावुकता और भावज्ञता या अनुभूतिशीलत
में विशेष अन्तर है। भावुकता मनोसागर में उठनेवाली अहंभा
से पूर्ण तरंगों के ऊपर का फेन है, जिसमें कोई सार-तत्त्व न
पाया जा सकता, और जो अपने थोथेपन पर अपने आप मुग
और मग्न रहती है; और भावज्ञता या अनुभूतिशीलता व
उदारभाव-पूर्ण विवेचना-शक्ति है जो दूसरों के सुख-दुःखों व
अनुभूति को अपनी ही अनुभूति समझने के लिए सब सम
तैयार रहती है।

—